प्रबुद्ध यामुन

सपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का तिरानबेवाँ पुष्प

प्रबुद्ध यामुन

अथवा

यामुनाचार्य-चरित

[नाटक]

लेखक

श्रीवियोगी हरि

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १॥)] सं० १९८६ वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
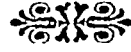
मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

नाटक के पात्र

पुरुष

यामुन	आलवदार यामुनाचार्य
देवदत्त रंगनाथ जनार्दन मल्लिनाथ	यामुनाचार्य के सहपाठी सखा
भाष्याचार्य	यामुनाचार्य के विद्या-गुरु
वीरसेन	मदुरा-नरेश
विद्वज्जन कोलाहल	मदुरा-नरेश का राजपंडित
राम मिश्र	महर्षि पुंडरीकाक्ष के शिष्य और यामुनाचार्य के गुरु
शार्ङ्गधर चक्रधर	राम मिश्र के शिष्य
त्र्यंबक शास्त्री मंगलेश भट्ट	मदुरा के नागरिक
रसिकानंद	विद्वज्जन कोलाहल का साला
सांब	विद्वज्जन कोलाहल का मंत्री
न्यायदत्त	एक महामहोपाध्याय
कांचीपूर्ण	यामुनाचार्य के एक शिष्य

नागरिक, महामात्य, कंचुकी, चर आदि

स्त्री

मंजुभाषिणी	महाराज वीरसेन की रानी

कमला विमला सावित्री		महारानी मंजुभाषिणी की सखी-सहेलियाँ
सौदामिनीदेवी	.	यामुनाचार्य की धर्मपत्नी
माधवी	..	सौदामिनीदेवी की सखी
सुहासिनी रसालिका इंदुमती		श्रीरंगधाम-निवासिनी स्त्रियाँ

प्रस्तावना

नांदी-पाठ

छप्पय

जयति अखिल ब्रह्मांड, सीस सर्षप-इव धारन ;
मगल-मूलाधार, तरन-तारन, सुख-कारन ।
प्रलय-पयोनिधि-सेतु, हेतु भू-भार-उतारन ;
निगमागम- रस- सार- भक्ति- सौरभ- संचारन ।
तिमि मायावाद-गजेंद्र-दल दलन केहरी अति प्रखर ;
अस रामानुज आचार्य-गुरु जयति आलवदार*वर ।

(सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) अब तक क्या चद्र-पजन नहीं हुआ प्यारी ? अर्घ्य दे चुकी हो, तो इधर आओ ।

(नटी का प्रवेश)

नटी—भगवान् कुमुदिनी-कांत को अर्घ्य तो कभी दे चुकी हूँ । अभी आप ही के कार्य मे लगी थी ।

सूत्रधार—कौन-सा कार्य प्यारी ?

---

* श्रीयामुनाचार्य से आशय है ।

नटी—भूल गए ? आज इस भक्त-समाज में कोई नाटक खेलने का आदेश दिया था न ?

सूत्रधार—हाँ-हाँ, खेलना न होता, तो तुम्हारी याद क्यों करता ?

नटी—तो विलंब न करें। दर्शकगण हम लोगों का अभिनय देखने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। अहा ! ऐसा सुअवसर फिर कब मिलेगा !

सूत्रधार—प्यारी, सचमुच ही गुरु-पूर्णिमा की यह सुहावनी चाँदनी, भगवद्भक्तों का पुनीत समागम और रसिकानुगामी वियोगी हरि-कृत 'प्रबुद्ध यामुन' के अभिनय का आयोजन एक-से-एक बढ़कर है। (दर्शकों की ओर देखकर) प्यारी, अच्छा तो यह हो कि इस उत्सुक दर्शक-मंडली को अपने कोकिल-कंठ से एकाध मनोमोहक गीत अलापकर आनंदित करो।

नटी—नाथ, कौन-सा गीत गाऊँ ?

सूत्रधार—वही—'मधुकर, क्यों न हरि-रस लहत ?' आज के लिये उससे अधिक उपयुक्त गीत और कौन-सा होगा ?

नटी—जो आज्ञा।

(गाती है)

गीत

मधुकर, क्यों न हरि-रस लहत ;
लहत हरि-रस क्यों न, इत-उत सूल-सालनि सहत ?

वसि विषय-विष बेलि सँग अँग दोष-दाहनि दहत ;
करै पान पियूष जहँ नित, क्यों न सो मग गहत ।
कुज-कुंजनि लुज ह्वै दुख-पुंज जरि-बरि बहत ;
जहँ रसिक-रमनीय उपवन क्यों न तहँ रमि रहत ।

सूत्रधार—बलिहारी ! तुम्हारे सुमधुर गीत ने तो दर्शकों को चित्र-खचित-सा कर दिया है । अब जो नाटक खेलना हो, शीघ्र कहो ।

नटी—क्या भूल गए ? 'प्रबुद्ध यामुन' का आदेश दिया है न ?

सूत्रधार—हाँ-हाँ, 'प्रबुद्ध यामुन' ही तो खेलना है । निर्वेद का प्रभाव ही ऐसा है । हा ! संसार-सागर में पड़ा हुआ मैं कुछ भी न कर सका । धन्य ! 'मधुकर, क्यों न हरि-रस लहत'—(नेपथ्य की ओर देखकर) ऐं ! देखो, यह कैसा सुंदर तेजस्वी बालक यज्ञ की समिधा लिए चला आ रहा है ! अहा !!

ब्रह्म-तेज दरसत अतुल, सरसत सुंदर रूप ,
बामन ह्वै छलिया छलैं, आज कौन-सों भूप ।

नटी—सब ज्ञात हो जायगा । चलिए ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रबुद्ध यामुन

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—दक्षिण-प्रांत का एक वन

समय—सायंकाल

(समिध लिए यामुन दिखाई देते हैं; पीछे-पीछे एक
मृग-शावक कूदता हुआ आ रहा है)

यामुन—(मृग शावक को पुचकारकर) वत्स, जा—लौट जा। मेरे पीछे-पीछे कहाँ तक जायगा ? अरे, हमारे यहाँ वन का-सा मन-माना सुख कहाँ मिलेगा ? (मन में) हम निर्दय वज्र-हृदय मनुष्यों के संपर्क में, भला, इन भोली-भाली आँखोंवाले पशुओं को सहज सुख कहाँ ? अहा !

कैसो केलि कलोल करत कूदत मृग-छौनो;
उछरत छुवत अकास, लहत सुख सहज सलौने।

चंचल पख-पुतरीन चकित चाकत, चहुँ चितवत,
खड़े कान दोउ, दाँत दाबि तृन तोरत, थिरकत ।

हरे-हरे ! हृदय-हीन अहेरी इन भोले-भाले, ठुमक-ठुमक-कर चलनेवाले नन्हें-नन्हें बच्चों को भी नहीं छोड़ते ! उन क्रूरों के धनुष की कठोर प्रत्यंचा, आश्चर्य है, इनकी दूध की धाई सरल चितवन के आगे उतर नहीं जाती ! इन सहज-सुकुमार अछूती कलियों को जाल में फँसाकर कुचलने के लिये निर्दय बहेलियों के हाथ कैसे बढ़ते होंगे ? हिंसक लोग कदाचित् विचार-शून्य होते हैं; नहीं तो केवल वीणा-नाद पर मुग्ध होनेवाले मृगों के साथ विश्वासघात करने में क्यों तत्पर हों ? आश्चर्य है !

सरल, निरमल, चपल चितवनि देखि इनकी हाय !
निदय हिंसक जनन के दृग डबडबात न आय !
सहज बाल-विनोद इनकौ निरखि छाँड़त बान;
परयो पाहन पवि-हृदय पर, नहिं पसीजत प्रान ।

(मृग-शावक से) जा—किसी निर्जन वनखंड में भाग जा। हमारे सहवास में तू सुख न पायेगा। तेरे लिये तो अनंत स्नेहमयी प्रकृति का ही विशाल अंक आनंदमय है। जा—लौट जा। (घूमकर देखकर मन में) क्या बात है ? लौटता ही नहीं। कदाचित् इसकी मा किसी निर्दय व्याधा के पाले

पड़ गई है। तभी तो इसकी भोली-भाली आँखों में बिछोह की रेखा झलक रही है। तो अब इसे कहाँ छोड़ूँ, क्या करूँ? यों ही छोड़े देता हूँ, तो निश्चय ही यह नर-पशुओं के चंगुल में पड़ जायगा। यहाँ कोई ऐसा सुरक्षित स्थान भी तो नहीं, जहाँ छोड़ जाऊँ। (कुछ सोचकर) अच्छा, इसे आश्रम को ही ले चलूँ। पूज्यपाद गुरुदेव इस अनाथ पर दया करेंगे। वह बड़े दयालु हैं।

पलकानि मैं हम सबनि कों, राखत नित करि छोह ;
करत मोह गुरुदेव अति, जदपि आपु निरमोह।

(ताककर) अब चलना चाहिए। बड़ा विलंब हो गया। गुरुदेव क्या सोचते होंगे? अभी उस दिन मुझे ढूँढते-ढूँढते आप पैदल ही कड़ी धूप में यहाँ आ पहुँचे थे। धन्य उनकी वत्सलता! (मृग-शावक प्रति) वत्स, आश्रम अभी दूर है। तू इन नन्हें-नन्हें पैरों से वहाँ तक कैसे चलेगा? आ, तुझे गोद में उठा लूँ।

(मृग-शावक को गोद में लेकर यामुन का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—श्रीभाष्याचार्य का आश्रम

समय—दिन का तीसरा पहर

(यामुन, देवदत्त, रंगनाथ, जनार्दन और मल्लिनाथ बैठे हैं)

जनार्दन—(चिंतित भाव से) देवदत्त, वृक्षों की छाया कितनी लंबी हो गई है ! अब एक ही पहर दिन होगा। गुरुदेव अभी तक नहीं आए। न-जाने कहाँ गए ! तुमसे कुछ कह गए थे ?

देवदत्त—नहीं तो; पर मैंने उन्हें जाते समय देखा अवश्य था।

रंगनाथ—कपिला का बछड़ा भी तो साथ था न ?

देव०—हाँ, दोनों ही बछड़े थे।

रंग०—दूसरा कौन ?

देव०—वही मृग-शावक। गुरुदेव से कैसा हिल गया है !

रंग०—सुना नहीं है, प्रेम से पशु भी आत्मीय हो जाते हैं ?

देव०—और पशु मनुष्यों की भाँति संशयात्मा भी तो नहीं होते, क्यों ?

रंग०—सत्य है भई !

मल्लिनाथ—(व्यंग्य से) तो पशु ही क्यों नहीं बन जाते ! आश्रम को पशु-शाला बना डालो। अरे हाँ, एक ही बछड़े से तो गुरुजी तंग आ गए थे; अब यामुन ने एक और बला उनके गले बाँध दी !

यामुन—जनार्दन, चिंता न करो। गुरुदेव आते ही होंगे। आज वह रंगेशमुनि के यहाँ, गोष्ठी में, गए हैं।

मल्लि०—पर बछड़ों का वहा क्या काम था ? क्या वे भी गोष्ठी में सम्मिलित होंगे ?

यामुन—गुरुदेव उन अनाथों को फिर कहाँ छोड़ जाते ? मृग-शावक तो उन्हें क्षण-भर भी नहीं छोड़ता। मल्लिनाथ दादा, अनाथों पर गुरुदेव सदा दया-वृष्टि करते रहते हैं। उनकी करुणा अपार है। देखा नहीं, कल सायंकाल वह उसे गोद में बिठाए अपने हाथ से दूब खिला रहे थे ?

रंग०—कभी-कभी तो जीव-दया के आगे वह अग्निहोत्र और संध्योपासन तक भूल जाते हैं।

यामुन—सत्य है। एक दिन गुरुदेव अपनी पर्ण-शाला में, दर्भ-शय्या पर, एक हाथ से तो कपिला के बछड़े को थपथपा-कर सुला रहे थे, और दूसरे हाथ से मृग-शावक को दूब चरा रहे थे। इतने में जब मैंने उन्हें संध्योपासन की सूचना दी, तब उन्होंने धीरे से कहा—"बच्चा, यह संध्योपासन ही तो कर रहा हूँ। प्राणियों के लालन-पालन में मुझे नारायण की लीला प्रत्यक्ष होती है।" यह कहते-ही-कहते उनके सस्नेह नेत्रों में आँसू छलक आए—वाणी गद्गद हो गई।

जना०—यह उनकी अहिंसा और दया का ही प्रभाव है, जो हमारे आश्रम के सीमांत में क्रूर अहेरियों का भी पाषाण-हृदय पानी-पानी हो जाता है; उनके धनुष की प्रत्यंचा आप-ही-आप उतर जाती है।

रंग०—अहिंसा का प्रभाव ऐसा ही है।

मल्लि०—अहिंसावादियो, यह जैन-मंदिर नहीं है, अहिंसा-अहिंसा क्या बक रहे हो?

रंग०—चुप रहो।

जना०—यामुन, हम लोगों का अहोभाग्य, जो ऐसे अशरण-शरण चरणों का आश्रय अनायास प्राप्त हो गया। धन्य है!

मल्लि०—व्याख्यान-वाचस्पतियो! कुछ पठन-पाठन का भी स्मरण है?

रंग०—मल्लिनाथ, तुम पूरे असभ्य हो; विना पूछे ही बीच में बेसिर-पैर की बात कह बैठते हो।

मल्लि०—सभ्य-शिरोमणे! कहीं बात के भी सिर-पैर होते हैं? वह कोई जीव-जंतु तो है नहीं।

रंग०—कहा किसने था कि बीच में बोलो? तुम्हारा मुँह बंद रहना ही अच्छा है।

मल्लि०—मेरा मुँह क्या कोठरी है, जो उसे ताला लगाकर बंद कर दिया करूँ? अरे, हाँ!

यामुन—क्यों व्यर्थ बकवाद करते हो—अपना-अपना पाठ क्यों नहीं पढ़ते ?

मल्लि०—सुना रंगनाथ, क्या आदेश देते हैं बावन अंगुल के गुरुजी ? हाँ, गुरुजी तो हैं यह यामुनजी महाराज। परसों गुरुदेव ने कहा जो था कि हमारे न रहने पर यामुन को आश्रम का अध्यक्ष माना करो।

रंग०—ठीक तो कहा था। तुम क्यों जले-भुने जाते हो ?

मल्लि०—जलो-भुनो तुम। मैं चूल्हा या भाड़ तो हूँ नहीं, जो जलूँ-भुनूँ !

जना०—ईर्ष्या क्यों करते हो ?

मल्लि०—इसलिये कि हम अधेड़ों के रहते यह बारह-तेरह वर्ष का छोकरा अध्यक्ष के आसन पर बिठा दिया गया ! क्या यह कम अन्याय है ?

रंग०—चुप रहो, गुरुदेव की आलोचना करते हो ?

मल्लि०—कौन-सा पाप कर डाला ? मैं तो सत्य बोलने-वाला हूँ—'सत्ये नास्ति भयं कचित्।'

रंग०—क्या तुम्हारा सत्य गुरुदेव पर भी हाथ साफ़ करेगा ?

मल्लि०—निःसंदेह। सुना नहीं है—'शत्रोरपिगुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि ?'

रंग०—मूर्ख कहीं का—लगा प्रमाण छाँटने ! काला अक्षर तो भैंस-बराबर, और दावा बृहस्पति का-सा !

मल्लि०—(अट्टहास करता हुआ) अरे निरक्षर भट्टाचार्य, कभी अक्षर भी भैंस के बराबर हुआ है ?

जना०—रंगनाथ, क्यों इस मूर्ख के मुँह लगते हो ? थोड़ी देर में आप ही झख मारकर चुप हो जायगा।

मल्लि०—झख मारो तुम। क्या मैं धीवर हूँ ?

जना०—समझते भी हो कि झख कहते किसे हैं ?

मल्लि०—मछली को कहते हैं, और किसे ?

जना०—खूब समझे !

मल्लि०—प्रमाण लो—'झखो मत्स्यः' इत्यमरः।

देव०—मान लिया भई ! कि तुम बड़े दिग्गज विद्वान् हो। अब क्यों माथापच्ची कर रहे हो ?

मल्लि०—अभी कुछ दिन पढ़ो, तब नए शब्दों की गढ़ंत करना। पच्चीकारी लकड़ी-पत्थर पर होती है—माथे पर नहीं। समझे ?

रंग०—तुम्हारा माथा लकड़ी-पत्थर से क्या कम है !

मल्लि०—(क्रोध से हाथ मलता हुआ) मुझे कहीं आज अध्यक्ष का पद मिला होता, तो एक-एक को ठोंक-पीटकर ठीक कर देता। क्या करूँ, कुछ वश नहीं।

रंग०—तुम बकवाद न छोड़ोगे ? अच्छा, लो।

मल्लि०—लाओ, क्या देते हो ?

रंग०—दो-चार घूँसे। कहो, लोगे ?

यामुन—रंगनाथ, शांत हो जाओ। क्यों व्यर्थ झगड़ा बढ़ाते हो ?

जना०—मल्लिनाथ, तुम क्यों दिन-पर-दिन झगड़ालू होते जाते हो ?

मल्लि०—क्या कहूँ भई, मैं तो मल्लिनाथ का मल्लिनाथ ही रहा, और यह छोकरा बन बैठा अध्यक्ष ! मुझे एक भी उपाधि न मिली !

जना०—देखो मल्लिनाथ, जब ब्रह्म तक निरुपाधि कहा गया है, तब तुम्हें क्या हुआ ? उपाधि से सदा दूर ही रहना चाहिए।

मल्लि०—वेदांत का सिद्धांत न बघारो। ब्रह्म तो नपुंसक-लिंग है। कहा, सो कहा, अब कभी ब्रह्म और मल्लिनाथ की तुलना न करना।

जना०—न करेंगे, भई ! आज हम लोग तुम्हें अनेक उपाधियों से अलंकृत किए देते हैं। फिर तो अप्रसन्न न होगे ?

मल्लि०—स्वप्न में भी नहीं। कौन-कौन-सी उपाधियाँ दोगे ?

जना०—सुनो—

मल्लि०—कहो न।

जना०—व्याकरण-व्याघ्र, कोश-कुठार, तर्क-तांडव, मीमांसा-मर्दन, न्याय-नाशक, काव्य-कुलिश आदि उपाधियों से आपका स्मरण किया करूँगा।

रंग०—और मैं कहा करूँगा—शास्त्र-शृगाल, वेद-विदूषक और दर्शनांतक

मल्लि०—और तो सब ठीक हैं; एक ही उपाधि आपत्ति-जनक है।

रंग०—कौन ?

मल्लि०—शास्त्र-शृगाल।

रंग०—भला इसमे कौन-सी आपत्ति है ?

मल्लि०—क्या मैं शृगाल हूँ ?

रंग०—नहीं तो क्या ?

मल्लि०—शास्त्र-शार्दूल हूँ—शास्त्र-शार्दूल !

रंग०—बलिहारी !

मल्लि०—अस्तु। अब यह बताओ, आश्रम का अध्यक्ष कौन है—मैं या यामुन ?

रंग०—यामुन।

मल्लि०—कैसे ?

रंग०—इसलिये कि गुरुदेव ने इन्हें महान् मेधावी मान-कर अध्यक्ष का पद दिया है।

मल्लि०—फिर वही—'बाबावाक्यं प्रमाणम्।'

यामुन—नहीं दादा, अध्यक्ष आप हैं।

मल्लि०—चिरंजीवि रहो बच्चा !

(नेपथ्य में)—

"क्या भाष्याचार्य का आश्रम यही है ? क्या कहा कि वह आश्रम में नहीं है ? उनके शिष्य तो होंगे ?"

जना०—ऐं ! यह कौन आश्रम का पता पूछ रहा है ?

यामुन—शब्द तो किसी राजपुरुष का-सा जान पड़ता है।

(एक चर का प्रवेश)

चर—भाष्याचार्य का आश्रम यही है ?

यामुन—हाँ, यही है ; तुम कहाँ से आए हो ?

चर—भाष्याचार्य कहाँ हैं ? उन्हें तुरंत बुलाओ।

मल्लि०—कैसा है रे ? गुरुदेव के नाम के पूर्व विना विशिष्ट विशेषण लगाए ही उनकी पूछ-ताछ कर रहा है ? जा—हट जा हमारे आश्रम से।

चर—चुप रहो। जो पूछा है, उसका उत्तर दो।

यामुन—तुम हो कौन ?

चर—श्रीमान् पंडित-चक्रचूड़ामणि विद्वज्जन-कोलाहल

महोदय का एक किंकर। अपने गुरु को तुरंत बुलाओ।

यामुन—(आश्चर्य से) कौन विद्वज्जन-कोलाहल ? क्या वह कोई राजा-महाराजा है ?

चर—सावधान ! उनके आगे राजा-महाराजा क्या हैं ? बड़े-बड़े विद्वानों और भूपालों के मस्तक उनके चरणों पर लोटा करते हैं आज तक तुमने उनका नाम भी नहीं सुना ? आश्चर्य है !

मल्लि०—इस आश्रम में नित्य ही विद्वज्जनों के वाद-विवाद का कोलाहल मचा रहता है। हम किसी और कोला-हल-ओलाहल को क्या जानें !

चर—सावधान, सावधान—

पाय जासु संकेत, शास्त्र-वेदादिक नाचैं ;
कलित कला जेहि लागि ललित लीला नित राचैं।
तर्क गजेन्द्र विदारि सिंह-ज्यों निर्भय गरजै ;
पंडित थरथर कंपत, बुद्धि जेहि देखत लरजै।
करि मदुराधिप-शिष्य बस सहज, सुरगुरु-लौं राजत अटल ;
अस कोलाहल पंडित प्रबल, लियो जीति जग ज्ञान-बल।

मल्लि०—धन्योऽसि ! कृतकृत्योऽसि !!

रंग—तुम्हारा अभीष्ट क्या है ?

चर—अभीष्ट पूछकर क्या करोगे ? तुम्हारे गुरु होते, तो बतला देता। वह कब तक आ जायँगे ?

यामुन—बताने में हानि ही क्या है ?

चर—अच्छा, कर लेने आया हूँ। लाओ—रख दो।

यामुन—कैसा कर ? क्या गुरुदेव तुम्हारे स्वामी का खेत जोतते हैं ?

चर—खेत नहीं जोतते; पर आश्रम तो खोल रक्खा है। इसी आश्रम पर कर लगाया गया है, समझे ?

यामुन—क्या पठन-पाठन पर भी कर लगता है ? नियों के आश्रम पर कर लगानेवाला कौन मूर्ख है ?

चर—बच्चा, पूज्य प्रभुपाद ने 'पंडित-कर' के नाम से समस्त परास्त पंडितों पर यह कर लगाया है। तुम्हारे गुरु भी तीन वर्षों से बराबर यह कर देते आते हैं। समझे ?

यामुन—तो क्या हमारे गुरुदेव उस विद्याभिमानी कोलाहल से पराजित हो चुके हैं ? असंभव—नितांत असंभव। (मन में) हाँ, यह हो सकता है। गुरुदेव ठहरे शांतिप्रिय और एकांतसेवी। संभव है, उन्होंने उसके साथ शास्त्रार्थ किए विना ही, झगड़े से बचने के लिये, यह अन्याययुक्त कर देना स्वीकार कर लिया हो। (चर से) जाओ, कोलाहल से कह देना कि अब कर की आशा छोड़ दें।

सब विद्यार्थी—बस ठीक है। ठीक है।

चर—तुम लोग बड़े ढीठ जान पड़ते हो। देखो, इस

व्यर्थ प्रलाप में न पड़ो। ऐसा कहलाकर तुम मृत्यु को तो निमंत्रण नहीं दे रहे हो? हैं! भला देखो तो !!

मल्लि०—जाओ—जाओ; व्यर्थ समय नष्ट मत करो।

चर—जाता हूँ; पर अपने गुरु से यह सँदेसा कह देना।

रंग०—गुरुदेव क्या तेरी बात पर कुछ ध्यान देंगे?

चर—अवश्य देंगे; चुपचाप उसी क्षण कर भेज देंगे।

रंग०—न भेजा तो?

चर—तीन दिन बाद दंड भोगना पड़ेगा।

मल्लि०—चुप रह; बकबक मत कर। जा, कोलाहल को तीन दिन बाद यहाँ भेज देना। हम लोग उसे देख लेंगे? बड़ा कर लेनेवाला बना है!

यामुन—बस, यही ठीक है। गुरुदेव तो क्या उस मदोद्धत के मुँह लगेंगे; हमीं लोग उसका सारा विद्याभिमान चूर-चूर कर देंगे। रंगनाथ, इस अनीति का अंत ही कर देना चाहिए। कोलाहल क्या दूसरा बृहस्पति है?

मल्लि०—देख रे चर! अब तेरा स्वामी बचने का नहीं। यदि वह मल्लयुद्ध करना चाहे, तो मुझ मल्लिनाथ के पास भेज देना। वह पछाड़ दूँगा कि जन्म-भर याद रहेगी। जा, कह देना कि लँगोट कसकर जाना।

(सब हँसते हैं)

यामुन—बस जाओ, अपने स्वामी को यहीं भेज देना।

चर—निश्चय ही इस आश्रम का नाश होगा। ये सुंदर भोले-भाले बालक पतिंगों की नाईं प्रभु के प्रचंड कोपानल में भस्म होंगे। हाय! क्या सूझा है इन छोकरों को?

कोलाहल जब सुनैगो, इनकौ बाल-प्रलाप;
प्रलय नेत्र तब खोलिहै, रुद्र-रूप ह्वै आप।
यह आश्रम, यह मंडली, वह पंडित असहाय;
प्रभु-कोपानल में अवसि, भस्म होहिंगे आय।

मल्लि०—अबे क्या गुनगुना रहा है? रुद्र-रूपी कोलाहल का वीरभद्र बनकर आया हमें धमकाने!

(चर का प्रस्थान)

जना०—कैसे-कैसे विघ्न आ जाते हैं। शांति-पूर्वक विद्याध्ययन करना असंभव-सा प्रतीत होता है यामुन!

यामुन—हाँ भई, अनाचार की सृष्टि नित्यप्रति बढ़ती जा रही है; कोलाहल मानो दूसरा रावण हुआ है, जो पंडितों और ऋषि-मुनियों पर कर लगाता फिरता है। उसका यह अत्याचार उसी का सर्वनाश करेगा। देखना तो।

मल्लि०—एक कटोरा रक्त क्यों नहीं दे दिया भई? ऋषियों ने रावण को दिया था न?

रंग०—फिर वही पागलपन सूझा।

यामुन—जनार्दन, इस पिशाच-युग में एकांत-सेवन भी दुर्घट-सा हो गया है; कोई निर्द्वंद्व रह ही नहीं सकता।

मल्लि०—जय परमहंस परिव्राजकाचार्य निर्द्वंदानंद सरस्वती की! कुछ गुरुदेव का भी ध्यान है? अब वह पहुँचते ही हैं, समझे?

यामुन—अच्छा स्मरण कराया दादा! चलो, हम लोग उनके स्वागत के लिये तत्पर हो जायँ।

जना०—ठीक कहा, भई।

रंग०—तब तक मैं पर्ण-शाला में संध्योपासन की सामग्री ठीक करता हूँ।

देव०—ठाक है। मैं भी जल-पात्र ले पुष्करिणी जाता हूँ।

मल्लि०—मेरे ललाट में तो गाय के लिये घास छीलना ही लिखा है; लाओ खुरपी और टोकरी।

रंग०—गो-माता की सेवा बड़े भाग्य से मिलती है मल्लिनाथ!

मल्लि०—ठाक तो कहा भई! 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मणहिताय च।'

(हँसते हुए सबका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—मदुरा-नगर का राजोद्यान

समय—प्रातःकाल

(महारानी मजुभाषिणी अपनी सहचरी कमला और विमला के साथ फूल चुन रही हैं)

कमला—श्रीमतीजी, तनिक इधर तो आइए। देखिए, इस मालती-लता की लीला! हमारे ही हाथों तो इसका लालन-पालन हुआ, और हमीं से अब लगी इठलाने !

महारानी—कमला, सच तो कहती है। यह हमारी ओर रुख़ भी नहीं करती, तमाल ही की ओर खिंचती जा रही है।

कमला—बेचारे तमाल को तो मानो इसने अपना बेदाम का गुलाम बना लिया है। इस प्रेम का भी कुछ ठिकाना है !

महा०—हाँ, लता-पाश से इसने अपने मुग्ध प्रियतम को ऐसा सुदृढ़ बाँध रक्खा है कि वह अपनी प्राणवल्लभा की आज्ञा के बिना टस-से-मस भी नहीं कर सकता !

विमला—प्रेम की महिमा ही ऐसी है। प्रेम की अधीनता ही सच्ची स्वाधीनता है।

कमला—प्रेमगर्विता चाहे जो न करे। धन्य यह प्रेम !

विमला—सखी, इस प्रेम की अधीनता पर मैंने एक कवित्त जोड़ा है। सुनाऊँ ?

महा०—चल, रहा तेरा कवित्त। फूल तो, तोड़ेगी नहीं, कवित्त पढ़ने को तैयार हो गई!

कमला—श्रीमतीजी, एक पंथ दो काज हो, तो क्या हानि है? साहित्य और कला का घनिष्ठ संबंध है। पुष्पों और पदों का चुनना, मेरी समझ में, सोने में सुगंध है। (विमला से) हाँ सखी, श्रीमतीजी को अपना कवित्त सुना तो। वह रुष्ट थोड़े होंगी।

विमला—अच्छा सखी, सुनाती हूँ—

(पढ़ती है)

माधुरी चखाय नैक बैनन की प्रीतम तें,
हार बनवाय, नाग-बेनी त्यों गुँथावै है;
पाहरू बनाय नेह-रँगी पीउ-नैननि तें,
बैठी निज रूप-रासि-चौकसी करावै है।
बोलै सतराय बैन, नैन हू नचाय एरी,
पायौ रिझवार भलो खीझि कै रिझावै है;
जोइ-जोइ प्यारी कहै, सोइ-सोइ प्यारो करै,
प्यारे कौं पियारी निसि-द्यौस यों नचावै है।

कमला—बलिहारी विमला! आज से तो मैं तुझे 'सरस्वती' कहा करूँगी।

विमला—मेरा विमला क्या बुरा नाम है?

महा०—कमला, तुम भी तो कवि हो। 'नचावै है' समस्या की पूर्ति कर सकती हो न?

कमला—क्यों नहीं।

महा०—अच्छा, सुनाओ तो सही।

कमला—जो आज्ञा।

(पढ़ती है)

प्रीतम कों बाँधि प्रेम-पास मैं पियारी ठाढी,
हुकुम चलावै, सौंह सौ-सौ त्यों खवावै है;
जदपि न मान, तऊ हेरै मुख मोरि नैक,
रुख की रुखाई पीउ-प्रानन सुखावै है।
चंद है चकोर-चख प्यारे के लखावै एरी,
रूप की घटा पै पीउ-चातकै रटावै है;
जोइ-जोइ प्यारी कहै, सोइ-सोइ प्यारो करै,
प्यारे कौं पियारी निसि-द्यौस यों नचावै है।

महा०—बलिहारी कमला! आओ, तुम दोनों को हम अपनी मणि-मालाएँ पहना दें।

(महारानी माला पहनाती हैं; दोनों उन्हें अभिवादन करती हैं)

महा०—कमला, आज रात को चौथे पहर न-जाने कैसा सपना देखा है। भगवान् की लीला अपरंपार है!

कमला—क्या हम वह सपना नहीं सुन सकतीं?

महा०—क्यों नहीं, तुमसे भला कोई बात छिपाई है? यही देखा है कि एक बड़े तेजस्वी ऋषि ने मेरी गोद में एक

दस-ग्यारह बरस का सुंदर बालक लाकर रख दिया । उस घड़ी, सखी, मेरी गोद में कमल-जैसे फूल बिछे थे । चारों ओर चाँदनी छिटकी थी । आकाश से फूलों की वर्षा हो रही थी । ऋषि ने गंभीरता से मेरी ओर देखकर कहा—"बेटी ! यही तेरा पुत्र है । पूर्व-जन्म की याद कर ।" यह कहकर ऋषि न-जाने कहाँ चले गए । वह चपल बालक मेरी गोद से उतरकर आँगन में खेलने लगा कमला । इतने में आँख खुल गई । जगने पर देखा, तो स्तनों से दूध की धार बह रही थी ! वह मोहनी मूरत आँखों में नाच रही है कमला । यह सब क्या है सखी ?

कमला—मंगलमूर्ति जनार्दन सब शुभ ही करेंगे । हम सब आपकी गोद अवश्य फली-फूली देखेंगी ।

विमला—अवश्य-अवश्य ।

महा०—जो हो, नारायण की गति कौन जानता है सखी ?

विमला—आज सावित्री नहीं आई कमला ?

कमला—आई तो है; देखो न, वह लता-मंडप के नीचे सिर झुकाए बैठी है । न-जाने वहाँ अकेली बैठी किस पर टोना मार रही है !

महा०—जाओ, बुला तो लाओ ।

कमला—जो आज्ञा ।

(जाती है और सावित्री को लेकर आती है)

महा०—सावित्री, आज हमसे इतना विराग ? उदास क्यों हो बहन ! किसी ने कुछ कहा-सुना तो नहीं ?

सावित्री—(सिर हिलाकर) नहीं तो ।

कमला—फिर क्या हुआ ? क्या किसी रसिक सत्य-वान् ने—

महा०—तुझे सदा हँसी ही सूझती है या कुछ और ।

कमला—महारानीजी, अवश्य कुछ दाल में काला है ।

महा०—(सावित्री से) बहन, तुझे क्या हुआ है ? क्या बोलना भी पाप है ?

सावित्री—(आँसू भरकर) क्या बोलूँ महारानीजी ?

महा०—किसी ने कुछ कह-सुनकर तेरा जी तो नहीं दुखाया ?

(सावित्री सिर हिलाकर 'हाँ' का संकेत करती है)

महा०—किसने मेरी प्राणप्यारी सखी के दिल को चोट पहुँचाई है ? किसने विष की लता से भेंटने की इच्छा की है ?

सावित्री—स्वामिनी, कल सध्या-समय इसी उद्यान में विद्वज्जन-कोलाहल की स्त्री ने एक ऐसी बात कही, जो कलेजे में तीर-सी चुभ रही है ।

(आह भरती है)

महा०—ऐं ! उस ब्राह्मणी ने ? क्या कहा बहन, उस सिर-चढ़ी भिक्षुणी ने ?

सावित्री—कहती थी—मेरे भाई रसिकानंद की—

(लज्जा से सिर नीचा कर लेती है)

महा०—(आतंक भाव से) बस, समझ लिया। (क्रोध से) कुछ और भी कहा ?

सावित्री—(रोती हुई) हाँ।

महा०—क्या ?

सावित्री—यह कि "सावित्री, तू तो हमारी दासी की भी दासी है। भूली किस घमंड में है ?"

महा०—हाँ; उस भिक्षुणी का इतना साहस ? देखूँ, इस कोलाहल को अब कौन रोटी का टुकड़ा देता है ? सिर चढ़ाने का यही फल होता है।

विमला—श्रीमतीजी, शांत हो जाइए। यह अधिक राज-सम्मान मिलने का फल है। प्रभुता पाकर कौन अंधा नहीं हो जाता ?

कमला—कोलाहल बड़ा उत्पात कर रहा है। उसके मारे देश-भर के पंडितों के प्राण संकट में पड़े हैं। भला, 'पंडित-कर' भी कोई कर है !

महा०—कैसा पंडित-कर ?

कमला—श्रीमतीजी क्या नहीं जानतीं ? उसने राज्य-कर की तरह का शास्त्रार्थ में हारनेवाले पंडितों पर पंडित-कर बाँध दिया है। इस अनीति को कोई सुनता भी नहीं। बड़ा अँधेर है महारानी !

महा०—अच्छा, यह मैंने आज ही जाना। बड़ा दुष्ट है।

विमला—श्रीमतीजी, सुना है, परसों महर्षि भाष्याचार्य के आश्रम में उसके एक चर का बड़ा अपमान हुआ।

महा०—कैसा ?

विमला—वह कर लेने गया था। महर्षि थे नहीं। यामुन नाम के एक बालक ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि जा; कोलाहल को यहीं भेज देना। उसका सारा विद्याभिमान हम लोग चूर कर देंगे।

महा०—ठीक कहा। महर्षि भाष्याचार्य उसे हराकर ही छोड़ेंगे। पर शास्त्रार्थ होने दूँ, तब न। मैं तो आज ही उसे उचित दंड दूँगी। दुष्ट कर लगाने चला है ! (सावित्री से) बहन ! आ, मैं तेरे हाथों में बकुल-पुष्पों के कंकण पहना दूँ। सावित्री, तू इतनी सीधी क्यों है ? (कमला से) हमारी सावित्री कैसी भोली-भाली है कमला !

कमला—यह मालती-लता भी तो भोली-भाली है !

महा०—चल, रही तेरी मालती ! जब देखो, व्यंग्य-भरी बात बोलती है।

विमला—कवि है न ! व्यंग्य ही तो काव्य का प्राण है।

कमला—मैं काव्य क्या जानूँ; व्यंग्य तो मालती और मधुप ही जानते हैं। कहीं मालती और केतकी में भी व्यंग्य सुना है ?

महा०—काव्य-मंजरी ! यह साहित्य-चर्चा का समय नहीं है। मंदिर का भी कुछ ध्यान है ?

विमला—हाँ, सचमुच बड़ी देर हो गई ? आज तुलसी-पूजन भी तो है।

महा०—अरे, मैं तो भूल ही गई थी। चलो, जल्दी चलें।

नेपथ्य में—

"नहीं, आश्रम जल नहीं पाया। श्रीमान् ने सुनकर तुरंत रोकवा दिया।"

महा०—(चौंककर) ऐं ! किसका आश्रम ! विमला, पूछ तो; कौन है। यहाँ बुला ला। जा, दौड़ जा।

विमला—जो आज्ञा।

(विमला जाती है, और एक सैनिक को साथ लिए हुए लौटती है)

सैनिक—(सिर झुकाकर) श्रीचरणों को प्रणाम करता हूँ। क्या आज्ञा है ?

महा०—किसका आश्रम जल रहा था ?

सैनिक—ऋषि भाष्याचार्य का।

महा०—समझ में नहीं आया। कौन, उन ऋषिराज का आश्रम जलाना चाहता था?

सैनिक—महारानी, आपने सुना होगा कि परसों पंडितराज विद्वज्जन-कोलाहल के एक कर-वाही चर का उनके आश्रम में, एक धृष्ट बालक द्वारा, बड़ा अपमान हुआ।

महा०—हाँ, सुना है कहते जाओ।

सैनिक—बस, इसी पर क्रुद्ध होकर पंडितराज ने आश्रम में आग लगा देने की आज्ञा दी थी।

महा०—इसी बात पर? कोलाहल बड़ा नीच है?

सैनिक—पर ऐसा हो नहीं पाया। महाराज ने सुनते ही यह अनीति रोकवा दी। अब सुना है कि ऋषि के उसी बालक के साथ पंडितराज शास्त्रार्थ करेंगे! मुझे तो विश्वास नहीं होता।

महा०—अच्छा, जाओ।

सैनिक—जो आज्ञा।

(सैनिक का प्रस्थान)

महा०—विमला, बड़ा अंधेर है! इतनी अनीति तो आज तक कहीं सुनी भी नहीं गई। यह सब क्या है, कुछ समझ में नहीं आता। देखती हूँ, इस दुष्ट को। अच्छा, अब चलो।

(सबका प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—कावेरी-तट पर एक पर्णशाला

समय—सायंकाल

(महर्षि राम मिश्र वीणा लिए अपने शिष्य शार्ङ्गधर और चक्रधर के साथ बैठे गा रहे हैं)

गीत

कबहूँ तौ या रहनी रहिए ;
देवनि दुरलभ देह पाय किन नारायन-रस लहिए ।
मीरे, सुधा-सने, सुचि, साँचे बचन बोलि अघ दहिए ;
पर-निंदा, पर-धन, पर-तिय तजि, पर-उपकार निवहिए ।
सुख-दुख दोऊ एक समुझि, सिर आनि पैर सो सहिए ;
सहज सील संतोष धारि सतसंग-चाव चित चहिए ।
छाँड़ि अमीरी ऐंठ-गरूरी, गहनि गरीबी गहिए ;
रहिए मुदित एकरस निरभय, क्योंकरि सो सुख कहिए ।

शार्ङ्गधर—गुरुदेव ! अब तो यह रहनी असंभव-सी दिखाई देती है । कहनी चाहे जितनी सुन ले, पर रहनी तो लाख में किसी एक में मिलेगी ।

राम मिश्र—सत्य है बच्चा ।

चक्रधर—धर्म क्या इतना क्षीण और विकृत हो जायगा कि पाखंडी अपने मिथ्या आचार की ओट में अक्षम्य अनाचार करने पर उतारू हो जायँगे ?

राम०—इसमें संदेह ही क्या? अरे हो जायगा कि हो गया है! सुना नहीं, कल विद्वानों की एक सभा ने कई अधर्म-संगत व्यवस्थापत्रों पर हस्ताक्षर कर दिए हैं?

चक्र०—भगवन्! सुना है—सब सुना है। स्मरण न कराइए—धर्म के क्रय-विक्रय का प्रसंग न छेड़िए।

शार्ङ्ग०—क्या स्मृतिकारों ने ऐसी-ऐसी अनीतियों का भी विधान लिखा होगा?

चक्र०—कदापि नहीं। इन दंभियों ने स्मृतियों को कल्पवृक्ष बना रक्खा है; जो माँगते हैं, मिल जाता है। विधान का निषेध और निषेध का विधान कर देना तो इनके बाएँ हाथ का खेल है शार्ङ्गधर!

राम०—बेटा! यह सब कांचन का प्रताप है। सुना नहीं, "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति!" बेटा, जिसके पास कांचन है, वही कुलीन है, वही विद्वान् और धमात्मा है!

चक्र०—हां, पर सत्यनिष्ठों के आगे उन धनांध अधर्मियों का क्या मूल्य है? मुझे तो गुरुदेव, धर्म का काम-कांचन के साथ लेश-मात्र भी संबंध नहीं जान पड़ता।

राम०—सत्य है बेटा। जिनके हृदय में सत्य का अमंद आलोक प्रकाशित है, वहाँ वास्तव मे काम-कांचन का अंधकार प्रवेश नहीं कर सकता। बेटा, अभी नारायण का

सुदर्शन-चक्र पूर्ववत् प्रतिष्ठित है। अभी वेद भगवान् की दिव्य मूर्ति भारतवर्ष मे अक्षुएण है। अनाचारियों की भंड-लीला सदा एक-सी न चलेगी। धर्म-अधर्म में जीवन-मरण का अंतर है। भगवान् श्रीरंग दोनों के साक्षी हैं। वत्स, भगवान् की इच्छा होगी, तो वह दिन दूर नहीं, जब सत्य-धर्म की स्वर्ग-स्पर्शिनी ध्वजा इस दंभ-दलित देश पर फिर एक बार उड़ेगी।

शार्ङ्ग०—देखे, वह सुदिन कब आता है।

राम०—शीघ्र आवेगा। अब तुम लोग जाओ। श्री-गोदाजी* के प्रबंधों का पारायण करो।

दोनों—जो आज्ञा।

(दोनों का प्रस्थान)

राम०—(मन में) वैकुंठ-वासी गुरुदेव पुंडरीकाक्ष के अंतिम वचनो का स्मरण कभी भूलता ही नहीं। क्या करूँ—कहाँ जाऊँ? कुछ पता भी तो नहीं। श्रीनाथमुनि और उनके पुत्र ईश्वरमुनि, दोनों का ही शरीर-पात हो चुका है। श्रीनाथमुनि ने प्राण-परित्याग करते समय, अपने पौत्र यामुन के संबंध में गुरुदेव से जो कहा था, उसमें कोई-न-कोई गूढ़ रहस्य अवश्य छिपा होगा। ऐसा न होता, तो गुरु-

* देखो परिशिष्ट।

देव उस धरोहर को मुझे क्यों सौंप जाते ? नाथमुनि का पौत्र कहीं भी हो, होगा अभी बालक ही। न्यासयोग और आल्वार प्रबंधों का रहस्य उस बालक को अवगत कराना अनिवार्य है। संभव है, नारायण उसी धूल-भरे हीरे के प्रकाश से लुप्तप्राय भागवत-धर्म का दर्शन करावें ! नाथमुनि यह भी तो आज्ञा दे गए थे कि भगवान् श्रीरंग की सेवा-पूजा हमारे पौत्र को ही सौंपना। देखें, भगवान् उस होनहार बालक को कब अपने श्रीचरणों की शरण में लेते हैं।

प्रभु-पद-रज-चिंतन करत, या कावेरी-तीर ;
कब इन नैननि निरखि हौं, यामुन प्रेमाधीर।

हरेरिच्छा बलीयसी !

(राम मिश्र का कावेरी की ओर प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—मदुरा-नगर का एक राजपथ

समय—सायंकाल

(एक ओर से त्र्यंबक शास्त्री और दूसरी ओर से मंगलेश भट्ट का प्रवेश)

त्र्यंबक शास्त्री—भट्टजी, नमोनमः।

मंगलेश भट्ट—नमोनमः शास्त्रीजी ! कुशल से तो हैं न ?

त्र्यंबक—आपकी कृपा चाहिए। आज इधर कैसे निकल पड़े ?

मग०—नारायण भट्ट से मिलने जा रहा हूँ। घर में बैठे-बैठे क्या करूँ ! जी ऊब जाता है। वहाँ दो-चार घड़ी धार्मिक वार्तालाप तो हो जायगा। यही सोचकर निकल पड़ा।

त्र्यंबक—नारायण भट्ट हैं तो दवेमूर्ति; किंतु देश-काल-परिस्थिति पर कम ध्यान देते हैं—धर्म के सजीव स्वरूप की ओर से कुछ-कुछ निरपेक्ष-से रहते हैं।

मंग०—जो हो, धर्म की अवस्था तो बहुत ही जीर्ण-शीर्ण होती जा रही है। आपने भी तो इस विषय पर विचार किया होगा।

त्र्यंबक—(हँसकर) विचार करने से होता क्या है भट्टजी। सद्विचारों पर चलनेवाले कितने हैं ! जब धर्म-व्यवस्थापक ही पतित हो रसातल को जा रहे हैं, तो जन-साधारण द्वारा धर्मोद्धार की आशा करना दुस्संभव-सा प्रतीत होता है। महाराज, धर्म किसी की पैतृक संपत्ति नहीं, जो केवल स्वार्थ-साधन के लिये नित्य नए धर्मों का निर्माण किया करते हैं, जो स्मृति के शब्दों से इस तरह चिपटे रहते हैं जैसे बंदर का बच्चा, जिनके विचार और आचार में आकाश-

पाताल का अंतर दिखलाई देता है, क्या उन्हें ही अब भी धर्म के राज-सिंहासन पर बैठालते चले जायँ ? कृपानिधान, इन धर्म के ठेकेदारों की अनीति अब तो असहनीय हो चुकी।

मंग०—बात तो ठीक है शास्त्रीजी ! परंतु हमारा सनातन-धर्म इस बात की आज्ञा नहीं देता कि हम धर्म-ध्वजों के संबंध में आलोचनात्मक अर्द्ध मात्रा का भी उच्चारण करें।

त्र्यंबक—क्या कहते हो महाराज ? सनातन-धर्म क्या इतना संकीर्ण—इतना क्षीण—इतना जड़ हो गया है कि हम पत्थर की मूर्तियों की तरह दंभाचार चुपचाप बैठे देखते रहें ? सत्य हमारी धर्म-नौका का कर्णधार है, निष्काम कर्म उसका परि-चालक है, और अनंत शांति उसका लक्ष्य है। प्राणि-मात्र का हित हमारे धर्म में है। नारायण की अशेष कृपा स्वप्न में भी जड़ता और अंध-परंपरा का आदेश नहीं देती। देश-काल-परिस्थिति के अनुकूल ही चलकर हमारी धर्म-नौका लक्ष्य पर पहुँच सकती है, अन्यथा नहीं। महाराज, अब तो हमसे कदाचार का प्रलय-तांडव नहीं देखा जाता।

मंग०—ठीक है ; पर हम क्या कर सकते हैं ? ईश्वर की कुछ ऐसी ही इच्छा होगी।

त्र्यंबक—ईश्वर की ? हरे-हरे ! ईश्वर कभी अधर्मकांड का

बीभत्स दृश्य नहीं देखना चाहता। ईश्वर सत्य है, शिव है और सुंदर है। वह अपना ही आदर्श इस सृष्टि में देखता है। जो हो रहा है, वह सब हमीं का-पुरुषों की इच्छा और कायरता से हो रहा है, कृपामूर्ति परमात्मा की इच्छा से नहीं।

मंग०—भई, हम-आप समय के विरुद्ध तो नहीं जा सकते। समय आने पर आप ही सब ठीक हो जायगा।

त्र्यंबक—समय आप ही तो आ नहीं जाता। वह तो कान पकड़कर बुलाया जाता है। समय से हम विमुख हुए कि वह आप हमसे विमुख हो गया।

मंग०—(हँसकर) चाहे जो कहो, हमें तो धर्मोद्धार की आशा नहीं।

त्र्यंबक—हमें तो है। निराशावाद तो हमें विस्मृति के गर्त में फेंक देना चाहिए। मैं तो मानता हूँ कि समस्त सृष्टि का जीवन-विकास आशा पर ही स्थित रहा है, और रहेगा।

मंग०—मतभेद रहते हुए भी मैं आपसे कई अंशों में सहमत हूँ। अब यह बतलाइए कि आप इस संबंध में क्या करना चाहते हैं ?

त्र्यंबक—चाहता तो बहुत कुछ हूँ, पर कोई सुने, तब न ?

मंग०—फिर भी कहने में क्या हानि है ?

त्र्यंबक—मैं चाहता हूँ कि नगर-नगर—ग्राम-ग्राम—में धर्म-शिक्षा के केंद्र स्थापित किए जायँ, साधारण धर्म पर चलने के लिये सभी लोग अधिकारी समझे जायँ, ऊँच-नीच का विचार न किया जाय। अच्छा हो, राज्य की ओर से यह व्यवस्था कर दी जाय कि बड़े-बड़े धर्माधिकारी, मठधारी और न्याय-व्यवस्थापक जनसाधारण पर, स्वार्थ साधने के लिये, कोई अनुचित दबाव न डालें—जन्म से जो अधिकार उन्हें ईश्वर-प्रदत्त प्राप्त हों, उन्हें डकार न बैठें। जो मिथ्याचरण करके भी धर्म का ठेकेदार बना बैठा हो, उसे दंड दिया जाय—भले ही वह कश्यप या वसिष्ठ का गोत्रज क्यों न हो। इसी प्रकार जो शुद्ध, सदाचारी और सद्धर्मनिष्ठ हो, उसे यथेष्ट सम्मान प्रदान किया जाय—वह शूद्र अथवा अंत्यज ही क्यों न हो। सत्याचरण ही धर्म की कसौटी समझी जाय। क्या यह विचार, यह योजना सनातन-धर्म के प्रतिकूल है?

मंग०—अनुकूल-प्रतिकूल तो मैं जानता नहीं, पर हैं यह सब आपके मन-मोदक।

त्र्यंबक—हाँ! आज इस अभागे देश में सत्याचरण और स्वाधीन विचार भी मन-मोदक समझे जाते हैं!! नारायण—नारायण!

मंग०—मेरे कहने का, शास्त्रीजी, यह तात्पर्य नहीं कि आपकी यह योजना बुरी है; पर हाँ, कार्यरूप में इसका परिणत होना ज़रा—

त्र्यंबक—क्यों—भला कठिन क्यों है ?

मंग०—इसलिये कि समय प्रतिकूल है।

त्र्यंबक—आप तो सारा दोष बेचारे समय के ही मत्थे मढ़ रहे हैं। भट्टजी महाराज ! उद्यमी और साहसी पुरुषों के आगे समय हाथ जोड़े खड़ा रहता है।

मंग०—यदि आपकी यह क्रांतिकारि योजना विद्वज्जन कोलाहल के कान तक पहुँच गई, तो जानते हैं, आपकी—और हमारी भी—क्या दशा होगी ?

त्र्यंबक—मृत्यु—और क्या ? जो हो, पर उस नराधम का नाम न लीजिए। धर्मदीपक की ज्योति उसी-जैसे दुरात्माओं के कारण क्षीण हुई है। बेचारे राजा पर उस धूर्त ने कैसा आतंक जमा रक्खा है ! गगन-चुंबी ब्राह्मण-कुल ऐसे ही चांडालों के कारण तो पतित हो गया न।

मंग०—यही बात है।

त्र्यंबक—भट्टजी, आपने सुना ही होगा—उसका साला रसिकानंद भी महा लंपट है।

मंग०—ख़ूब जानता हूँ—ख़ूब जानता हूँ। राजमहिषी की

कृपापात्री कुमारी सावित्रीदेवी के साथ, सुना है, वह विवाह करने की दुश्चेष्टा कर रहा है।

त्र्यंबक—यही दुश्चेष्टा उसका नाश करेगी। अस्तु, परसों उसने कुछ ब्राह्मणों को भोजनार्थ निमंत्रित किया था।

मंग०—किसने ?

त्र्यंबक—किधर ध्यान चला गया भट्टजी ! उसी रसिकानंद ने—समझे ?

मंग०—हाँ, फिर ?

त्र्यंबक—जब उन लोगों ने उसके यहाँ भोजन करना स्वीकार न किया, तो उसने कोलाहल से कहकर, विना ही किसी अपराध के, उन बेचारों को नगर-निकाला दिलवा दिया।

मंग०—शिव ! शिव !!

त्र्यंबक—यह कोई नई बात नहीं है। उस दुष्ट के कारण तो इस अंधेर-नगरी में नित्य ही ऐसे घोर अनर्थ हुआ करते हैं न।

मंग०—क्या किया जाय ?

त्र्यंबक—इन्हीं अत्याचारों के कारण मेरी आँखों से ख़ून बरस रहा है—हृदय जला जाता है।

मंग०—शास्त्रीजी, उसने महर्षि भाष्याचार्य के आश्रम को

भी भस्मसात् करा देने की आज्ञा दे दी थी; पर राजाज्ञा से आश्रम बच गया।

त्र्यंबक—ऋषियों पर भी हाथ साफ करना चाहता है क्या? महर्षि ने उसका क्या बिगाड़ा था?

मंग०—सुनिए। दो-तीन दिन हुए, कोलाहल का एक चर उनके आश्रम में पंडित-कर लेने गया था। महर्षि कहीं बाहर गए थे। वहाँ उनके शिष्य थे। आप जानते ही हैं, लड़कों और बंदरों का एक स्वभाव होता है। एक अल्पवयस्क यामुन नाम के बालक ने उस चर को यह कहकर आश्रम से हटा दिया कि पहले कोलाहल हमसे शास्त्रार्थ कर लें, तब उन्हें कर दिया जायगा। इस बात पर वह आग-बबूला हो गया, और ब्रह्म-चारियों-सहित उनके आश्रम को जला देने की आज्ञा दे दी!

त्र्यंबक—नारायण! नारायण!!

मंग०—अच्छा हुआ, नहीं तो व्यर्थ—

त्र्यंबक—भट्टजी, मैं उस बालक को भली भाँति जानता हूँ। वह बड़ा ही ओजस्वी है। एक दिन उसने वेदांतदर्शन के एक सूत्र का ऐसा चमत्कार-पूर्ण नवीन अर्थ किया कि मैं तो सुनकर चकित हो गया। यदि शास्त्रार्थ हुआ, तो कोलाहल निश्चय ही उस प्रकांड ब्रह्मचारी द्वारा पराजित होगा। भट्टजी, मुझे तो वह बालक कोई अवतार समझ पड़ता है।

मंग०—पर शास्त्रार्थ होगा नहीं—इतने भारी दिग्गज विद्वान् के साथ श्रीमान् मदुराधीश एक बालक को शास्त्रार्थ करने की कदापि आज्ञा न देंगे।

त्र्यंबक—यदि हुआ, तो मध्यस्थ कौन बनेगा ? पंडित-समाज तो उसी दुष्ट के अधीन है। राजा भी एक प्रकार स उसी के हाथ की कठपुतली है!

मंग०—फिर ?

त्र्यंबक—सत्य ही साक्षी रहेगा। सत्य सदा-सर्वथा निष्पक्ष—स्वतंत्र—है।

मंग०— तथास्तु।

त्र्यंबक—भट्टजी, यामुन को देखने के लिये इस समय मेरा मन उड़-सा रहा है। क्यों आप भी आश्रम की ओर चलेंगे ?

मंग०—जैसा कहिए। नारायण भट्ट से फिर किसी दिन मिल लूगा। चालिए, यामुन के बाहु पर सर्वतोभद्र यंत्र बाँध-कर उसे समस्त विघ्न-बाधाओं से अभय कर दूँ।

त्र्यंबक—ठीक है। आपकी मंत्र-विद्या ऐसे ही अवसर पर तो काम देगी। चलिए।

मंग०—चलिए।

(दोनों का आश्रम की ओर प्रस्थान)

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—कोलाहल का भवन

समय—आधी रात

(रसिकानंद कुमारी सावित्री से प्रेम की भिक्षा माँग रहा है)

सावित्री—हट—दूर हट—कामांध। तू मद्य से उन्मत्त हो रहा है—हिताहित नहीं समझ सकता। देख, यदि मेरे अंग का स्पर्श किया, तो जलकर राख हो जायगा।

रसिकानंद—(हाथ जोड़कर) प्रिये! प्राणवल्लभे!! मैं तो अपना सारा हिताहित तुम्हारे रूप-लावण्य पर कभी का न्योछावर कर चुका हूँ। तुम्हारे रूप-सागर में मेरा धर्माधर्म सब कभी का डूब चुका है। अब तो इस क्रीतदास को अपने चरणों की सेवा करने दो।

(पैरों पर गिरना चाहता है)

सावित्री—(हटकर) नराधम! तुझे लज्जा नहीं आती! किसी कुमारी के साथ ऐसी नारकीय प्रार्थना करते हुए तेरी जीभ गलकर नहीं गिर जाती! आँख खोल—अंतर की आँख से देख। तू मेरा धर्म का भाई

होता है। अरे कुत्ते ! तू अपनी धर्म-भगिनी के साथ ऐसा निंदनीय व्यवहार करने पर उतारू हो गया ! नीच, अपने को सँभाल।

रसि०—(आगे बढ़कर) प्रिये ! बहुत हो चुका—अब यह व्याख्यान रहने दो। आओ—मेरे स्निग्ध भुज-पाश में आओ। सावित्री—प्राणप्रिये सावित्री, अपने दास को कृतार्थ करो।

सावित्री—(पैर पटककर) दूर हट चांडाल ! नहीं तो भस्म हो जायगा।

रसि०—प्रिये ! बहुत हो चुका। अब तो अपने करपल्लव का स्पर्श कर लेने दो सावित्री ! तुम्हारे सुमृदु अधर-चुंबन के लिये यह दास कब से लालायित है !

सावित्री—(ललकारकर) हट जा यहाँ से कुत्ते ! नीच !! नराधम !! हट—नहीं तो अभी तुझे......

रसि०—(गुस्से से) चुप रह—बक-बक करती है ! आज तुझे इसी कोठरी में बंद करता हूँ। कल या तो तू स्वयं मेरा पाणिग्रहण करेगी या मैं तेरे साथ बलात्कार कर तुझे यमलोक की यात्रा कराऊँगा। आया कुछ समझ में ?

सावित्री—इसी क्षण यमलोक की यात्रा क्यों नहीं कराता है दुरात्मन् ? हट यहाँ से ! नीच ! धमकी देने आया है !

(रसिकानंद कोठरी का ताला बंद करके चला जाता है)

सावित्री—(रोती हुई) प्रभो ! कहाँ हो ? इस अनाथ को बचाओ। नाथ ! तुम्हारा नाम दुष्ट-दलन अशरण-शरण है। अपने नाम की लाज रक्खो नाथ ! इस नर-पिशाच ने मुझे षड्यंत्र में फँसा लिया है ! कल मेरे साथ बलात्कार करेगा ! क्या उस समय तक मेरे पापी प्राण इस पिंजड़े में बंद रहेंगे।

गीत

नाथ हो ! मेरी ओर निहारो ;
विपत-विदारन, पतित-उधारन, दीजै चरन-सहारो।
हौं अनाथ हरिनी प्रभु ठाढी, रोवति-रोवति हारी ,
ताने बान झुक्यौं इन पारधि, हरिए भीति मुरारी।
विहंग-सुता हौं निपट अकेली या निर्जन वन माहीं ;
कब कों बाज फिरत मडरान्यो, कोउ रखवारो नाहीं।
जासों द्रौपदि चीर बढ़ायौ, कौरव-सभा मँझारी ;
जासों ग्राह-ग्रसो गज राख्यौ, सो कहँ बाँह तिहारी।

प्रभो ! दीनबंधो !! मृत्यु दो—अब सहा नहीं जाता !

नेपथ्य में—

"क्या कहा, किसकी आज्ञा से आए हो ?—श्रीमती राज-महिषी की आज्ञा से।"

सावित्री—(उत्कंठित हो) ऐं ! कौन है ? माता श्रीराज-महिषी ने क्या इधर कृपा की है ?

नेपथ्य में—

"हाँ, हाँ, अवश्य सावित्री आपके ही यहाँ है।"

सावित्री—हाँ, अभागिनी सावित्री इसी कराल कारागार में—

(तीन-चार सैनिक ताला तोडकर कोठरी में से कुमारी सावित्री को निकाल ले जाते हैं)

दूसरा दृश्य

स्थान—अंतःपुर

समय—संध्या

(मदुरा-नरेश वीरसेन महारानी मंजुभाषिणी से बैठे बात कर रहे हैं)

वीरसेन—प्रिये, शास्त्रार्थ कराने का इतना आग्रह क्यों करती हो ? पंडितराज को तो हम समझा लेंगे। वह किसी प्रकार मान भी जायँगे। पर तुम्हारा मनाना कठिन जान पड़ता है। शास्त्रार्थ तो क्या, एक कुतूहल होगा। इस मनोरंजन में तुम्हारा भी कुछ इष्ट है क्या ?

मंजुभाषिणी—मनोरंजन या इष्ट की बात नहीं है, न मैं हठ ही करती हूँ। आपके पंडितराज ने महर्षि भाष्याचार्य को शास्त्रार्थ के लिये जो ललकारा है और जिसका उत्तर उनके

छोटे-से तेजवान् शिष्य ने दिया है, बस, मैं उसी का भेद समझना चाहती हूँ। अवश्य इसमें कोई-न-कोई भेद है। नहीं तो भला इतने भारी पंडित के साथ भिड़ने के लिये एक बारह-तेरह बरस का छोकरा कैसे आगे बढ़ता !

वीर०—(हँसकर) भेद-वेद कुछ नहीं है प्यारी।—उसका लड़कपन है।

मंजु०—कैसे मानूँ ?

वीर०—क्यों, मानने को क्या हुआ ?

मंजु०—सोचिए तो, आज तक कभी इतने छोटे लड़के ने कहीं ऐसा लड़कपन किया है ?

वीर०—यदि वह ढीठ बालक हार गया, तो उस समय क्या होगा—जानती हो ?

मंजु०—जो एक न्यायाधीश का होता है।

वीर०—अर्थात्—

मंजु०—दंड। न्याय के आगे बूढ़ा और बालक क्या ! पर न्याय आपको अपनी अंतरात्मा के आदेश पर देना होगा ?

वीर०—क्या मैं इतना विचारशून्य हूँ ?

मंजु०—यह कौन कहता है ? पर सुना है, राजों के नेत्रों की अपेक्षा बहुधा कान ही हुआ करते हैं।

वीर०—ऐसा होता, तो आज मेरे राज्य में अंधेर-ही-अंधेर दिखलाई देता।

मंजु०—कैसे विश्वास करूँ कि अंधेर नहीं है!

वीर०—अविश्वास का कोई कारण भी तो होगा?

मंजु०—कारण—एक नहीं—पचासों हैं। पर इस समय लाभ क्या?

वीर०—क्यों?

मंजु—कदाचित् आपके कृपापात्र रूठ जायँ?

वीर०—क्या तुमसे भी अधिक मुझे कोई प्रिय होगा प्रिये?

मंजु०—क्यों कहलाते हैं?

वीर०—तुम्हें हमारी शपथ है।

मंजु०—महाराज, आपने आँखों से काम लिया होता, तो आज आपकी प्राणों से प्यारी प्रजा कोलाहल के अत्याचारों से उत्पीड़ित न होती। प्राणनाथ! छोड़िए इस पाप-प्रसंग को।

वीर०—कोलाहल भला क्या अत्याचार करते होंगे? वह कोई मंत्री तो हैं नहीं। क्या कहती हो प्रिये! पंडितराज की विद्वत्ता और सज्जनता—

मंजु०—विद्वत्ता ही कहिए—सज्जनता नहीं। सज्जनता होती, तो—अब क्या कहूँ?

वीर०—मैंने तो आज तक पंडितराज के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं सुना। मंत्रीगण क्या मुझे धोखा देते हैं ?

मंजु०—धोखा नहीं देते, उससे डरते हैं। वह देखो, कंचुकी—

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी—(अभिवादन करके) धर्मावतार ! पंडितराज किसी आवश्यक कार्य से पधारे हैं। क्या आज्ञा है ?

वीर०—सम्मान-पूर्वक बैठने दो—मैं आता हूँ।

कंचुकी—जो आज्ञा।

(कंचुकी का प्रस्थान)

मंजु०—पधारिए। इसी संबंध में आए होंगे।

वीर०—प्रिये, शास्त्रार्थ सुनने को क्यों इतनी अधीर हो रही हो ? क्या आज तक शास्त्रार्थ नहीं सुना ?

मंजु०—सचमुच ही मैंने कभी शास्त्रार्थ नहीं देखा ! (व्यंग्य से) आपके मदुरा में आई, तो भला शास्त्रार्थ तो सुनने को मिल गया !

वीर०—(आलिंगन-भाव से) क्षमा करो प्राणवल्लभे ! मैंने तो यों ही कहा था। जानता हूँ, तुम्हें सदा से शास्त्रार्थ सुनने में ही आनंद आता है। कहो, तो कल तुम्हीं को मध्यस्थ बना दूँ। पर कहीं—अच्छा, अब जाऊँगा।

मंजु०—कैसा, 'पर कहीं' ?

वीर०—यही कि यामुन का पक्ष ग्रहण किया तो—

मंजु०—यामुन मेरा कौन होता है ? यह पक्षपात राजाओं ही को फबता है ! जाइए, देर करने से कहीं आपके बृहस्पति महाराज रूठ कर चले न जायँ !

वीर०—जाता हूँ। तुम्हारे ही मन की होगी। मनोरंजन ही सही। इसी बहाने एक कुतूहल हो जायगा।

(महाराज वीरसेन का प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—कोलाहल का भवन

समय—मध्याह्न

(विद्वज्जन कोलाहल अपने मंत्री साब और रसिकानद के साथ बैठे हैं)

सांब—प्रभो, महामहोपाध्याय न्यायदत्त शास्त्री बड़ी देर से ड्योढ़ी पर बैठे हैं। आज्ञा हो, तो...... ?

कोलाहल—वही काशीवाले न ? हाँ-हाँ, बुलाओ। मैं तो भूल ही गया था।

सांब—जो आज्ञा।

(साब का जाना और न्यायदत्त को साथ लेकर आना)

न्यायदत्त—(साष्टांग प्रणाम करके) अहोभाग्य है, जो दर्शन मिले। धन्य है आज का दिवस !

कोला०—आपको आए तीन-चार दिन हो गए या अधिक ?

न्याय०—धर्मावतार, जो है सो, आज इस नगरी में पंचम दिवस है।

कोला०—हमने सुना है, आप मीमांसा के दिग्गज विद्वान् हैं।

न्याय०—जो है सो, सब श्रीमान् की कृपा है।

कोला०—आपके व्यवस्था-पत्रों की देश में बड़ी धूम है। धन्य है !

न्याय०—जो है सो, सब श्रीमान् का ही अखंड प्रताप है।

कोला०—आपने धर्म-शास्त्रों में कोई ऐसा भी प्रमाण पाया है, जिसके आधार पर वेश्या के हाथ का भोजन ग्रहण करना विहित समझा जाय ?

न्याय०—एक प्रमाण ! श्रुति, स्मृति, पुराण, जो है सो सभी में श्रीमती आदि कुमारी मंगलामुखी के कर-कमल से प्रसाद ग्रहण करना धर्मविहित कहा गया है, जो है सो। आज्ञा हो, तो व्यवस्था-पत्र बना दूँ धर्मावतार !

कोला०—दक्षिणा क्या होगी, महामहोपाध्यायजी ?

न्याय०—धर्मावतार से दक्षिणा, आप तो प्रभु हैं। आप ही का प्रदत्त, जो है सो, भोजन कर उदर-पोषण करता हूँ। आपसे जो है सो, दक्षिणा ग्रहण करना महान् अपराध होगा।

कोला०—फिर भी साधारणतः आप व्यवस्था-पत्र लिखते किस द॰ पर हैं?

न्याय०—धर्मावतार! दक्षिणा जो है सो, भिन्न-भिन्न विधान की भिन्न-भिन्न है।

कोला०—व्यवस्था-पत्र किस रीति से लिखते हैं?

न्याय०—जो व्यवस्था माँगता है, उसके गृह पर जो है सो, एक पंडितों की सभा बुलाई जाती है, जो है सो। पंडित-गण शीघ्रबोध, सारस्वत, चंद्रिका, अमरकोश, रघुवंश, मेघ-दूत आदि ग्रंथों से, जो है सो, प्रमाण ढूँढ-ढूँढकर शास्त्रार्थ करते हैं, फिर जो है सो, मैं व्यवस्था-पत्र लिख देता हूँ। पंडित-गण जो हैं सो, पत्र पर हस्ताक्षर-मात्र करते हैं। सबको जो है सो, एक-एक, दो-दो मुद्रा दक्षिणा में दी जाती है। पश्चात् जो है सो मैं दक्षिणा ग्रहण करता हूँ।

कोला०—आपकी दक्षिणा कितनी होती है?

न्याय०—भिन्न-भिन्न है धर्मावतार!

कोला०—जैसे?

न्याय०—विदेश-यात्रा-मंडन की दस सहस्र मुद्रा जो है सो।

कोला०—वेश्या-विवाह की, महा महोपाध्यायजी?

न्याय०—बीस सहस्र मुद्रा जो है सो।

कोला०—वेश्या-उच्छिष्ट-ग्रहण की?

न्याय०—जो है सो उतनी ही।

कोला०—गो-हत्या-मुक्ति की?

न्याय०—दो सहस्र।

कोला०—गुरु-हत्या-मुक्ति की?

न्याय०—पाँच सहस्र।

कोला०—और नियोग-मंडन की?

न्याय०—बीस सहस्र, जो है सो।

कोला०—विधवा-विवाह की?

न्याय०—पाँच सहस्र।

कोला०—वृद्ध-विवाह की?

न्याय०—जो है सो, पाँच सहस्र मुद्रा।

कोला०—तब तो खूब मालामाल हो गए होंगे महाराज!

न्याय०—जो है सो, सब श्रीमान् की कृपा है।

कोला०—न्यायदत्तजी, आप वास्तव में एक असाधारण

पंडित हैं। हमें ऐसे ही धर्मव्यवस्थापकों की आवश्यकता है। अच्छा, आज ही से हम आपको अपना प्रधान मंत्री नियुक्त करते हैं।

न्याय०—(पैरों पर गिरकर) जय हो धर्मावतार ! जो है सो आप साक्षात् धर्ममूर्ति हैं। धर्म की नौका के एक-मात्र कर्णधार आप ही हैं। आपके सदृश गुणग्राहक जो है सो न भया है, न वर्तमान है, और न होगा जो है सो।

कोला०—न्यायदत्तजी, इस राज्य की पहले बड़ी बुरी दशा थी। सैकड़ों धूर्त पंडितों, संन्यासियों और भागवतों का जमाव रहता था। हमीं ने इस अधर्म-भूमि पर समस्त भंड पंडितों का मान मर्दन कर धर्मध्वजा आरोपित की है। हमने पराजित पंडितों पर कर भी बाँध दिया है। ठीक किया न ?

न्याय०—जो है सो धर्मावतार ! ऐसा न्याय आज तक किसी से नहीं भया।

कोला०—अब यहाँ केवल दो-एक कंटक और रह गए हैं। वे भी आपकी सहायता से दूर हो जायँगे, ऐसी आशा है।

न्याय०—अवश्यमेव। कौन-से कंटक हैं श्रीमन् ! जो है सो।

कोला०—एक तो यहाँ की रानी बड़ी दुष्टा है—राँड़, जब

देखो तब, धूर्त पंडितों और भागवतों का पक्ष लिया करती है।

न्याय०—राजा उसे जो है सो दंड नहीं देता?

कोला०—इतनी ही तो बात बिगड़ी है। उसने अपने अपूर्व रूप-लावण्य पर राजा को ऐसा मुग्ध कर लिया है कि वह उसी के पीछे-पीछे डोला करता है। विचार है, उस दुष्टा को विष...। इसमें कोई दोष तो नहीं?

न्याय०—दोष? जो है सो दोष का मानना हृदय का महान् दौर्बल्य है। सहस्रों प्रमाणों से जो है सो मैं श्रीमान् का निर्दोष सिद्ध कर सकता हूँ।

कोला०—धन्यवाद!

न्याय०—(रसिकानंद की ओर देखकर) श्रीमन्! जो है सो यह कृष्णवर्ण, विडाल-नेत्र कुब्ज महोदय कौन हैं? बड़े ही सुंदर और सुशील प्रतीत होते हैं।

कोला०—यह हमारे साले हैं। इनका नाम रसिकानंद है।

न्याय०—अहा! वास्तव में, आप जो है सो रसिकानंद ही हैं। आपके नेत्र ही जो है सो रसिकता के सूचक रहे हैं।

रसिकानंद—मंत्रीजी, आपका तंत्रशास्त्र में भी कुछ प्रवेश है?

न्याय०—जो है सो मैंने तंत्रशास्त्र के यावत् ग्रंथों का परिशीलन किया है। तंत्रशास्त्र तो जो है सो मेरी पैतृक संपत्ति है। मेरे पुस्तकालय में जो है सो मेघनाथ-कृत पचासों बृहद् ग्रंथ सुरक्षित हैं।

कोला०—न्यायदत्तजी, रसिकानंदजी वशीकरण-प्रयोग के फेर में पड़े हैं। है कोई बढ़िया-सा उपाय ?

न्याय०—क्या कहना ! जो है सो रसिकानंद ही तो हैं। किसका वशीकरण होगा धर्मावतार ?

कोला०—यह रानी की एक दासी पर रीझ गए हैं। उसी की लगन में न इन्हें दिन को भूख लगती है, न रात को नींद। जब देखो, उसी के नाम का जप करते रहते हैं।

न्याय०—नाम क्या है जो है सो उस अप्सरा का ?

कोला०—सावित्री।

न्याय०—तो अवश्य ही मैं जो है सो रसिकानंदजी को सत्यवान् बनाऊँगा। धर्मावतार ! जो है सो रानी पर भी मैं अमोघ मारण प्रयोग कर सकता हूँ।

कोला०—अच्छी बात है। हमें आप पर पूरा विश्वास है। आप ही के भरोसे मैं अपने कार्य को पूरा करूँगा।

न्याय०—जो है सो श्रीमान् की कृपा चाहिए।

कोला०—न्यायदत्तजी, अब आप जाइए। कल बात

करूँगा। मुझे एक आवश्यक कार्य से राजप्रासाद तक जाना है।

न्याय०—जो आज्ञा श्रीमन्! (न्यायदत्त का प्रस्थान)

कोला०—सांब, रथ तैयार कराओ। रसिकानंदजी, तुम यहीं रहना।

सांब—जो आज्ञा। (साब का प्रस्थान)

कोला०—(स्वतः) यदि कल उस छोकरे के साथ शास्त्रार्थ करने का राजा ने आग्रह किया, तो अवश्यमेव मैं उसे सिंहासन-च्युत कराऊँगा। (प्रकट) रासिकानंद, यहीं बैठना। मैं अभी लौटता हूँ।

रसिका०—बहुत अच्छा।

(कोलाहल का प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—राजसभा

समय—प्रात काल

(महाराज वीरसेन और महारानी मंजुभाषिणी सिंहासन पर, और उनके एक ओर पंडित-मंडली तथा दूसरी ओर राजकर्मचारी, और सामने दर्शकगण बैठे हैं। विद्वज्जन कोलाहल और ब्रह्मचारी यामुन के आने की सब लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं)

वीरसेन—(महारानी से) मंजु! आज सचमुच ही बड़ा

समारोह है। क्या पंडित क्या मूर्ख, क्या वृद्ध क्या बालक, क्या गृहस्थ क्या विरक्त, क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी आए हैं। जन-साधारण सदा से ही कुतूहलप्रिय होते आए हैं।

मंजु०—महाराज, यहाँ कुतूहल-प्रियता की बात नहीं है। यहाँ तो यह सब लोग कोलाहल की पराजय देखने को ही आए हैं। सभी के हृदय से यही बात निकल रही है कि विजय-माल बालक यामुन के ही कंठ में पड़ेगी।

वीर०—किंतु मुझे तो यह आकाश-कुसुम-सा प्रतीत होता है।

मंजु०—पर यह तो आप जानते होंगे कि परमात्मा की महिमा से आकाश में भी फूल लगते हैं।

वीर०—हाँ, संध्या समय रंग-बिरंगे मेघ तो निस्संदेह आकाश में वाटिका की तरह दिखाई देते हैं।

मंजु०—यह तो विश्वास की बात है।

वीर०—मेरा तो यही विश्वास है कि पंडितराज का यामुन द्वारा परास्त होना असंभव है, निरा स्वप्न है। क्या तुमने पंडितराज की दिग्-दिगंतव्यापिनी कीर्ति नहीं सुनी?

मंजु०—सुनी है। उनका विद्या-बल अपार है, तेज अतुल है। उनकी कीर्ति अनंत है। वह दूसरे बृहस्पति या विधाता हैं। उनकी गुणावली गाने का कष्ट न उठाइए। मैं

जानती हूँ कि उन्होंने अपनी वचन-चातुरी और चाटुकारी के बल से श्रीमान् मदुरा-नरेश को अपने अधीन कर लिया है। मैं यह भी जानती हूँ, उन्होंने ज्ञान मे तो नहीं, पर दंभ और छल-प्रपंच से सारे संसार को अपनी मुट्ठी में बाँध रक्खा है। किंतु राज-राजेश्वर, दंभ कितने दिन चल सकता है? एक-न-एक दिन भेद खुल ही जाता है। आज यदि उनकी माया काम दे गई, तो मैं भी उन्हें आज से 'पंडितराज' कहा करूँगी। इतना ही नहीं, मैं तो उसी क्षण...

वीर०—(हाथ पकड़कर) सावधान! प्रिये, सावधान!! बिना विचारे कोई प्रतिज्ञा न कर बैठना।

मंजु०—जो पहले ही कर चुकी हूँ, उसे?

वीर०—भंग कर दो।

मंजु०—असंभव है। परमात्मा मेरी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे।

वीर०—क्या प्रतिज्ञा की है?

मंजु०—सुनिए—

कोलाहल के कंठ कहुँ परिहै जो जयमाल;
हैहौं तौ प्रभु-दास की दासी हौं ततकाल।

सभासद—(उच्च स्वर से) बलिहारी! बलिहारी!!

वीर०—(घबराकर) सावधान! प्रिये, प्रतिज्ञा भंग करो,

नहीं तो मैं इसी क्षण शास्त्रार्थ बंद कर दूँगा। एक असंभव बात के लिये इतनी अविवेक-पूर्ण घोर प्रतिज्ञा !!

मंजु०—प्राणेश्वर! शास्त्रार्थ तो अवश्य करना होगा। मैंने बिना समझे-बूझे प्रतिज्ञा नहीं की। मुझे निश्चय हो गया है कि आपके कोलाहल अवश्य ही हार जायँगे।

वीर०—प्रिये, कहती क्या हो? जिस बालक को कदाचित् ही अक्षरों का सम्यक् बोध हो, जो राजसभा में उठना-बैठना भी न जानता होगा, जिसने दर्शन-शास्त्र की पुस्तकों का दूर से ही दर्शन किया होगा, भला प्रिये! सोचो तो वह छोटा-सा बालक व्याकरण-विज्ञ, शास्त्र-शार्दूल, वेदांतविशारद, साहित्य-सरोवर एवं विद्या-वारिधि विद्वज्जन कोलाहल के साथ शास्त्रार्थ कर सकेगा? कभी संभव नहीं। शास्त्रार्थ करना तो दूर रहा, वह उनके तेज के सामने क्षण-मात्र ठहर भी नहीं सकता।

मंजु०—अपना-अपना विश्वास ही तो है। आपका ऐसा विश्वास है, और मुझे यह संदेह है कि उस दिव्य ब्रह्मचारी के अखंड ओज के आगे कहीं आपके पंडितराज का मुँह न बंद हो जाय।

वीर०—क्या कभी तुमने गजेंद्र और बिड़ाल का मल्ल-युद्ध होते सुना है? क्या कहीं नवनीत द्वारा वज्र को खंड-

खंड होते देखा है ? क्या चींटी की एक फूँक से कभी अदम्य दावानल बुझते सुना है ? क्या कभी मोम का लट्टू अग्नि-कुंड पर नाचते देखा है ? क्या नमक की मछली ने कभी अगाध समुद्र की थाह ली है ? मुग्धे ! यदि ये कपोल-कल्पनाएँ सत्य होती देखी हैं, तो तुम्हारा यामुन भी विद्वज्जन कोलाहल को परास्त कर देगा ।

मंजु०—नाथ ! बहुत-सी कपोल-कल्पनाएँ भी सत्य हो जाती हैं । पर मैं तो उन्हे कपोल-कल्पना कहती ही नहीं । देखिए, भगवान् मकरध्वज का धनुष वासंती कुसुम-कलियों से बनाया गया है । उनके पंचबाण भी फूलों के ही हैं । पर वह इन्हीं के प्रताप से ब्रह्मांड-विजयी हुए हैं । देखने में तो सूर्य-मंडल छोटा ही प्रतीत होता है ; पर वह उदय होते ही अखिल लोक के अंधकार को छिन्न-भिन्न कर देता है । क्या महेंद्र के क्षुद्र वज्र ने बड़े-बड़े भूधरों के वक्षःस्थल खंड-खंड नहीं किए थे ? नाथ ! जैसे वामन भगवान् ने अपने अतुल पराक्रम से त्रिलोक-विजेता बलि को बाँध कर पाताल भेज दिया था, उसी भाँति, मुझे पूरा विश्वास है, वह छोटा-सा बालक आपके दिग्गज पंडितराज को परास्त करेगा ।

वीर०—मंजु ! तुम्हारी कल्पना सच्ची निकली, तो मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ—

जो कहुं यामुन जीतिहै, कोलाहल कौं आज ;
तौ वाकों वाही घरी, दैहौं आधो राज ।

सभासद्—(उच्च स्वर से) साधुवाद ! साधुवाद !!

नेपथ्य में—

निगमागम सँग रचत ललित लीला लरिकाई ;
मचलि भारती-गोद, काव्य सो करत मिताई ।
तर्क-सरोवर माहिं हंस-लौं करत कलोलैं ;
बोलत बोल अमोल, सुनत योगी दृग खोलैं ।
प्रिय जीवन भाष्याचार्य कौ, आश्रम कौ हुलसित हृदय,
अस बाल-भास्कर सम उदित यामुन पावै नित विजय ।

वीर०—लो प्रिये ! तुम्हारे बाल-भास्कर उदयाचल पर आ पहुँचे !

मंजु०—(सहर्ष) तभी तो कुमुद-बंधु कोलाहल कांति-हीन हो कहीं छिप गए ।

(आश्रम-वासी ब्रह्मचारियों के साथ यामुन का प्रवेश होना । यामुन को देखकर सब लोग उठकर खड़े हो जाते हैं । महाराज वीरसेन अभिवादनानंतर यामुन को सादर आसन पर बिठलाते हैं)

मंजु०—(स्वगत) अहा ! कैसी मोहिनी मूर्ति है ! जी चाहता है, इस सुंदर तेजस्वी बालक को गोद में बिठाकर मन-भर प्यार कर लूँ । इसकी भोली सुंदरता, दिव्य तेज

और अद्भुत बुद्धिबल, सब मुख-मंडल पर कैसे झलक रहे हैं ! अरे चंचल मन ! इस बालक को देखकर वात्सल्य-भाव से तू क्यों इतना अधीर हो रहा है ?

निरखि या प्रिय वत्स कों, मन क्यों न धारत धीर ?
वाम दृग फरकत सुभग क्यों, स्रवत सहजहि छीर ?
लखि जटिल अलकावली, शुचि सरल चितवन चारु ;
करत मन मुख चूमिबे कों, याहि करि हिय-हारु ।

(प्रकट) महाराज, यामुन की ओर आप टक बाँधकर देख रहे हैं । मन-ही-मन उनका विद्या-बल तो नहीं तोल रहे हैं ?

वीर०—सचमुच ही यह ब्रह्मचारी महान् तेजस्वी जान पड़ता है । ब्रह्म-तेज इसके सरल नेत्रों में ऐसा छिप रहा है, जैसे उषा के अंचल में बाल-सूर्य की प्रच्छन्न किरण-माला । सत्य ही यह धूल-भरा हीरा है । मुझे तो यह भस्माच्छादित अंगार जान पड़ता है ।

नेपथ्य में—

पाय जासु संकेत शास्त्र वेदादिक नाँचे,
कलित कला जेहि लागि ललित लीला नित राँचैं ।

मंजु०—लीजिए, आ पहुँचे आपके पंडितराज ।

(राजसी ठाट से विद्वज्जन कोलाहल का प्रवेश होना ; सब लोग उठ उठकर सादर प्रणाम करते हैं । महाराज वीरसेन उन्हें सम्मानपूर्वक आसन देते हैं)

वीर०—विलंब क्यों हुआ पंडितराज ? कोई आवश्यक कार्य आ गया था क्या ?

कोला०—श्रीमन्, आज प्रातःकाल ही भैरवेश्वर का महाभिषेक करना था, इसी से कुछ विलंब हो गया। (चारों ओर देखकर) भाष्याचार्य भी तो अभी तक नहीं आए ?

वीर०—वह तो नहीं आए, उनके शिष्य "यामुन" पधारे हैं। यही आपके साथ शास्त्रार्थ करेंगे।

कोला०—(यामुन की ओर घृणा की दृष्टि से देखकर) श्रीमन्! आज तक इस सभा में मेरा उपहास नहीं हुआ ; किंतु न-जाने क्यों, आज श्रीमान् एक बालक के साथ शास्त्रार्थ करने की आज्ञा देकर मुझे इस कुतूहल में प्रवृत्त करा रहे हैं !

वीर०—पंडितराज, शास्त्रार्थ देखने का श्रीमती राजमहिषी ही विशेष आग्रह कर रही हैं। उन्हें बहुत-कुछ समझाया-बुझाया ; पर वह मानतीं ही नहीं। तब विवश हो यह कुतूहल रचना पड़ा।

कोला०—श्रीमतीजी की जैसी आज्ञा। अच्छा, मैं अपना एक विद्यार्थी खड़ा किए देता हूँ। यामुन के लिये तो वही बहुत होगा।

मल्लिनाथ—(उछलकर) और मैं आपके लिये पर्याप्त हूँ। आओ, उतरो अखाड़े में। तैयार हो न ?

(सब लोग हँसते हैं)

कोला०—श्रीमन् ! वृद्धावस्था में क्या इन्हीं छोकरों द्वारा मेरा सम्मान होगा ?

वीर०—पंडितराज, बालक और बंदर एक स्वभाव के होते हैं। इनकी ढिठाई पर ध्यान न दीजिए। दो-चार सरल प्रश्न पूछकर यामुनजी की परीक्षा तो लीजिए। आप तो एक ही प्रश्न के उत्तर में उनकी विद्या का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रश्नोत्तर को आप परीक्षा ही समझें, शास्त्रार्थ नहीं।

कोला०—जो आज्ञा। (यामुन से) यामुन, तुमने किया तो दुस्साहस है ; पर मैं तुम्हारी शांत मुद्रा और सुशीलता देख तुम्हें क्षमा-प्रदान करता हूँ। पहले विद्याध्ययन करो, तब शास्त्रार्थ करना। परमात्मा करे, तुम निखिल शास्त्र-निष्णात हो।

यामुन—(विनम्र भाव से) आर्य, आपके अमोघ आशीर्वाद से मैं यथा-शक्ति विद्योपार्जन करूँगा ; किंतु विना शास्त्रार्थ किए गुरुदेव के चरणारविंदों का दर्शन कैसे मिलेगा ? गुरुदेव के चरणों के समीप बैठकर इस दास ने,

विना संकल्प पूरा किए, पीछे पैर रखना तो सीखा ही नहीं !

कोला०—यामुन, मैं तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूँ। तुम्हारा साहस उस बौने मनुष्य का-सा है, जो अपने हाथ से नक्षत्र तोड़ने का प्रयत्न किया करता है—उस कूप-मंडूक का-सा है, जो समुद्र की थाह लेने पर कटिबद्ध हो जाता है—उस पतिंगे का-सा है, जो उदयाचल तक उड़ान करने के लिये अपने पंख फटफटाने लगता है !

यामुन—पंडितश्रेष्ठ ! इस समय मैं आपका उपदेशामृत पान करने नहीं आया—आपका दया-पात्र बनने भी नहीं आया। लोग शास्त्रार्थ सुनने के लिये अधीर हो रहे हैं। अतएव मुझसे एकाध सरल प्रश्न पूछकर मेरी परीक्षा लीजिए। देखूँ, मैं आपके प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे सकता हूँ या नहीं। आशा है, आप मेरी धृष्टता पर ध्यान न देंगे।

वीर०—पंडितराज, पूछते क्यों नहीं ? आपको शास्त्रार्थ करना ही होगा; क्योंकि इधर नारी-हठ है, तो उधर बाल-हठ ! इन उभय हठों से त्राण पाना महा कठिन है पंडितराज !

मल्लिनाथ—पंडिताधिराज ! चक्रव्यूह में आप भली भाँति फँस चुके है !, अब यहाँ से निकल भागना फक्किका का

फाँकना, घटपट की खटपट करना या 'अइउण्' का सपाटा मारना नहीं है। सुना महाराज ?

(सब लोग हँसते हैं)

कोला०—यामुन, तुमने बस दो-चार काव्य की छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ी होंगी, कौमुदी के दस-पाँच पन्ने पलटे होंगे !

यामुन—इतना भी नहीं !

कोला०—अच्छा, हम साहित्य-संबंधी दो-चार प्रश्न पूछते हैं। तैयार हो न ?

यामुन—आपकी कृपा से, जैसा कुछ बनेगा, उत्तर दूँगा।

कोला०—माधुर्य का क्या लक्षण है ?

यामुन—जिसमें प्रवेश करते ही अंतःकरण द्रवीभूत हो जाय, उस आनंद-विशेष को माधुर्य कहते हैं।

कोला०—क्या माधुर्य द्रवीभाव का कारण नहीं है ?

यामुन—कदापि नहीं।

कोला०—क्यों ?

यामुन—आस्वादरूप आनंद से अभिन्न है।

कोला०—विस्तार से कहो।

यामुन – द्रवीभाव एक प्रकार से रस ही है। जैसे रस कार्य नहीं है, उसी प्रकार द्रवीभाव भी कार्य नहीं हो सकता।

कोला०—गद्य कितने प्रकार का होता है ?

यामुन—चार।

कोला०—नाम ?

यामुन—वृत्तगंधि, चूर्णक, उत्कलिकाप्राय और मुक्तक। प्रस्तार-भेद से इनकी संख्या सहस्रों तक जाती है।

कोला०—प्रस्तार रहने दो—वीथी क्या है ?

यामुन—एक अंक का नाटक।

कोला०—उसमें किस रस का प्राधान्य रहता है ?

यामुन—शृंगार का।

कोला०—बीभत्स-रस का स्थायीभाव क्या है ?

यामुन—जुगुप्सा।

कोला०—हास्य के विरोधी रस कौन हैं ?

यामुन—भयानक और करुण।

कोला०—धन्यवाद ! यदि अध्ययन करते गए, तो एक दिन तुम निस्संदेह साहित्य-मर्मज्ञ हो जाओगे।

यामुन—आपका आशीर्वाद चाहिए।

कोला०—दर्शन में भी तुम्हारा कुछ प्रवेश है ?

यामुन—है तो; पर उसे मैं चंचु-प्रवेश ही कहूँगा।

कोला०—मैं कहता हूँ, "ब्रह्म में जगत् की असत् प्रतीति है।" कुछ समझे ?

यामुन—आपका यह कथन असंभव है।

कोला०—फिर संभव क्या है ?

यामुन—सत्प्रतीति।

कोल०—कैसे ?

यामुन—आपके कथनानुसार जब जगत् ही असत् है, तो उसकी प्रतीति कैसी ?

कोला०—क्यों ?

यामुन—ऐसा मानना तो 'शश-शृंग'-न्याय होगा। जब शश के शिर पर शृंग ही नहीं होते, तब उनकी प्रतीति कैसी ?

कोला०—तुम समझे नहीं—ब्रह्म ही जगत् के आकार में है।

यामुन—ब्रह्म तो परम विशुद्ध सच्चिदानंदघन है, और यह जगत् चेतन-अचेतन का सम्मिश्रण। जो मैं आपका पक्ष ग्रहण करता हूँ, तो ब्रह्म में 'जड़त्व' आरोपित हो जायगा। भगवन्, बेचारे ब्रह्म की दुर्दशा न कीजिए।

कोला०—जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जगत् तो कथन-मात्र का है। वास्तव में एक ब्रह्म ही सत् है।

यामुन—कैसे ?

कोला०—जैसे एक सुवर्ण के कंकण, कुंडल आदि अनेक

नाम रख दिए जाते हैं। यही उदाहरण ब्रह्म और जगत् के संबंध में लागू किया जा सकता है।

यामुन—तो क्या ब्रह्म 'सुवर्ण-कुंडल'-न्याय से परिणाम को प्राप्त हुआ है? क्यों व्यर्थ आप ब्रह्म में परिणाम-विकार का आरोपण कर रहे हैं? ब्रह्म तो 'निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं' आदि श्रुतियों से प्रतिपादित परम विशुद्ध निर्विकार है। क्या इन श्रुतियों पर आप हरताल फेर देंगे?

कोला०—क्या तुमने 'मायाभासेन जीवेशौ करोति, यह श्रुति नहीं सुनी? जीव और ईश्वर, दोनों ही माया-कल्पित हैं।

यामुन—यह कथन असंगत है।

कोला०—क्यों?

यामुन—'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' तथा 'मत्तः परतरं नान्यत्' इत्यादि आर्ष-प्रमाणों से ईश्वर ही जीव और जगत् का परम कारण है, माया नहीं।

कोला०—यह तुम्हारी भ्रांति है।

यामुन—माया किसके आश्रय से जीव और ईश्वर की कल्पना करती है?

कोला०—जीव और ईश्वर, इन्हीं दोनों के आश्रय से।

यामुन—बलिहारी! यह तो वही बात हुई, जैसे कोई कहे कि

मैंने अपनी सगी जन्मदात्री माता का अपने पिता के साथ विवाह होते देखा है। आपके इस अध्यात्मवाद मे कुछ भी सार नहीं। जीव और ईश्वर, दोनों चेतन और माया अचेतन है। अचेतन कदापि चेतन का कारण नही हो सकता।

कोला०—क्या तुम जीव और ब्रह्म में भिन्नत्व मानते हो?

यामुन—आपको क्या ज्ञात हुआ?

कोला०—जान पड़ता है, तुमने ब्रह्मात्मैक्य अप्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों पर कभी मनन नहीं किया?

यामुन—यह मैंने कब कहा!

कोला०—तुमने ब्रह्मात्मैक्य पर मनन किया होता, तो इतना वितंडावाद खड़ा न होने देते; क्योंकि ब्रह्मवेत्ता साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है।

यामुन—इस ब्रह्मात्मैक्य का कोई प्रमाण भी है?

कोला०—एक क्या, सहस्रों प्रमाण हैं।

यामुन—एकाध मैं भी सुनूँ।

कोला०—सुनो—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

यामुन—इसका अर्थ तो यही हुआ कि ब्रह्मवेत्ता 'ब्रह्म-साम्य' अथवा 'ब्रह्म-साधर्म्य' प्राप्त कर लेता है—स्वयं ब्रह्म नहीं बन जाता।

कोला०—यह विचित्र अर्थ कहाँ से निकाल लिया यामुन ?

यामुन—जैसे, 'मंचाः हसन्ति' का यह अर्थ नहीं कि काठ के मंच हँस रहे हैं, किंतु 'मंचस्थाः जनाः हसन्ति' (अर्थात् मंच पर स्थित लोग हँस रहे हैं), यह अर्थ सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ लगाना ठीक होगा।

कोला०—यह तो बतलाओ, साम्य किंवा साधर्म्य कहाँ से सिद्ध कर लिया ?

यामुन—'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति' अथवा 'ममसाधर्म्यमागताः आदि पचासों श्रुतियाँ ब्रह्मसाम्य किंवा ब्रह्म-साधर्म्य का प्रतिपादन कर रही हैं।

कोला०—जब ब्रह्म और जीव में साधर्म्य है, तब उनमें उपास्य-उपासक-भाव कैसे संभव हो सकता है ?

यामुन—इसका उत्तर तो बहुत ही साधारण है।

कोला०—(क्रोध से) कुछ कहोगे भी ?

यामुन—उदाहरण के लिये 'पितृनिभः पुत्रः' रखता हूँ। इस वाक्यांश का यद्यपि यह अर्थ निकलता है कि पिता के समान पुत्र है, तथापि इस भाव में कोई बाधा नहीं आती कि पिता

पूज्य है और पुत्र पूजक। इसी प्रकार 'सिंहो देवदत्तः' का यह भाव नहीं है कि देवदत्त आकार में साक्षात् सिंह है; किंतु वह भयानकता, वीरता, क्रूरता, हिंसा आदि गुणों में सिंह के सदृश है।

सभासद—साधुवाद! साधुवाद!!

मल्लिनाथ—यथा 'मल्लिनाथः सिंहः' इत्यादि-इत्यादि।

(सब लोग हँसते है)

कोला०—हाँ-हाँ, कहते जाओ यामुन!

यामुन—वेदांत-सूत्रों मे भी 'भोगमात्र साम्यालिंगाच्च' यह सूत्र स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि मुक्तावस्था में मुक्त जीव भोग-मात्र ही ईश्वर के समान पाता है। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' यह श्रुति भी पूर्वोक्त सूत्र के साथ ही स्वर मिला रही है। अतएव 'साधर्म्य' और 'उपास्य-उपासक-भाव' में कोई व्याघात-दोष नहीं आता।

सभासद—धन्यवाद! धन्यवाद!!

(यामुन के जयकार से सभा गूंज उठती है)

मल्लि०—कहिए कोलाहल महोदय! अब फिर कभी पंडितो पर कर लगाओगे? आप यह जानते होंगे कि हमारा संसार में कोई भी प्रतिद्वंद्वी नहीं। आपको यह खबर ही न थी कि कोलाहल के जोड़ का भगवान् ने एक हलाहल भी

उत्पन्न कर रक्खा है, अर्थात् हमारे यामुनजी महाराज। (यामुन से) हो तो भाई, वही बावन अंगुल के; पर न-जाने तुम्हारे पेट-सागर में क्या-क्या भरा है! तुम्हें इन श्रुतियों को ठूँसते-ठूँसते अजीर्ण नहीं हुआ? देखूँ तो भला, तुम्हारी उदर-कंदरा में अभी कितनी और श्रुतियाँ भरी पड़ी हैं।

(यामुन का पेट ठोंकता है; सब लोग हँसते हैं)

मंजु०—(महाराज वीरसेन से) महाराज, अब यामुन को भी पंडितराज से दो-चार प्रश्न पूछने का अवसर दीजिए।

वीर०—ब्रह्मचारीवर! तुम्हारी अध्ययनशीलता, बहु-ज्ञता, शालीनता और विनम्रता वस्तुतः श्लाघनीय है। अब तुम भी पंडितराज से दो-चार प्रश्न पूछ सकते हो। (कोला-हल से) पंडितराज, यामुनजी के शास्त्रानुशीलन से आप-को कुछ संतोष हुआ या नहीं?

कोला०—श्रीमन्! बालक होनहार प्रतीत होता है।

यामुन—(महाराज वीरसेन से) राजन्, आर्य पंडितराज से कुछ पूछना मेरा धृष्टता-पूर्ण कार्य होगा, तथापि जिज्ञासा-बुद्धि से कुछ पूछूँगा।

मीम्न०—अच्छी बात है, न पूछो। मैं तो पूछता हूँ, पूछता ही नहीं, पंडिताधिराज की परीक्षा लेता हूँ। अच्छा बोलो—

यामुन—मल्लिनाथ दादा, तनिक ठहर जाओ। आपका बोलना अप्रासंगिक है।

मल्लि०—अच्छा भाई, ठहरा जाता हूँ, पर ठहर जाना भी तो अप्रासंगिक है!

यामुन—(कोलाहल में) आर्य, मैं तीन प्रश्न उपस्थित करूँगा। आशा है, उनका उत्तर आप नास्तिपक्ष में देंगे।

कोला०—अच्छा यामुन, जैसा तुम कहो।

यामुन—पहला प्रश्न यह है—

"आपकी माता वंध्या हैं"—क्या इसे आप अस्वीकार करते हैं?

मल्लि०—पंडितराज, प्रश्न तो बड़ा ही सरल है। कह क्यों नहीं देते अस्वीकार नहीं, स्वीकार करता हूँ—हाँ, वंध्या हैं! किंतु वंध्या कैसे होंगी? आप-जैसे वंश-भास्कार सुपुत्र के होते भला आपकी माता वंध्या कही जा सकती हैं? (यामुन से) अरे भाई! क्या अंटसंट बात पूछते हो? कोई शास्त्र का विषय पूछो—अरे! वही ब्रह्म, माया, जीववाला विषय।

(सब लोग हँसते हैं)

यामुन—आर्य, अधिक समय न लें। अभी दो प्रश्न और पूछना है।

(कोलाहल निरुत्तर हैं)

वीर०—पंडितराज, उत्तर दीजिए। व्यर्थ विलंब करना उचित नहीं।

(कोलाहल फिर भी निरुत्तर है)

यामुन—(महाराज वीरसेन से) श्रीमन्, आज्ञा हो, तो दूसरा प्रश्न उपस्थित करूँ?

वीर०—अच्छी बात है।

यामुन—दूसरा प्रश्न मेरा यह है—

"महाराज पुण्यात्मा हैं"—आप इसे असिद्ध करें।

मल्लि०—अर्थात् पापात्मा हैं। अरे यामुन, यह भी कोई प्रश्न है! जिनके माल-टाल डकार-डकारकर पंडितजी महाराज लंबोदर बने बैठे हैं, भला उन्हें यह पापात्मा कहकर अपना लोक-परलोक बिगाड़ देंगे? उधर कोतवाल बैठे हैं! राजा भला पापात्मा हो सकता है?

वीर०—पंडितजी, किसी प्रकार का संकोच न करें। यथार्थ कहने में किस बात का डर है?

मल्लि०—प्रमाण भी है—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्"; किंतु—

रंगनाथ—'किंतु' क्या?

मल्लि०—यही कि "न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्"; किंतु—

रंग०—फिर वही 'किंतु'!

मल्लि०—यही कि "दोषा वाच्या गुरोरपि"; किंतु—

रंग०—बस, चुप रहो।

मल्लि०—राजा तो साक्षात् ईश्वर-विभूति है—"नराणाञ्च नराधिपः"; किंतु—

यामुन—शांत हो जाओ दादा। पीछे शास्त्रार्थ कर लेना। समझे?

मल्लि०—समझ गया; किंतु—

रंग०—बस करो।

यामुन—(कोलाहल से) महोदय, उत्तर के लिये क्या कुछ देर तक और प्रतीक्षा करूँ?

(कोलाहल निरुत्तर हैं)

मंजु०—(हाथ उठाकर) सभ्यवृंद! कोलाहल के परास्त होने में अब भी आप लोगों में किसी को कुछ संदेह है?

(किसी को नहीं—किसी को नहीं)

मंजु०—शोक है, बेचारे छोटे-से बालक पर कठोर-हृदय कोलाहल को अब भी दया नहीं आती! क्या मैं कह सकती हूँ कि अब शास्त्रार्थ समाप्त किया जाय और विजयमाल यामुन को पहनाई जाय?

(अवश्य—निःसंदेह)

यामुन—(विनम्र भाव से) श्रीमतजी, अभी एक प्रश्न और शेष है।

मंजु०—अच्छा वत्स !

यामुन—पंडितश्रेष्ठ, अब मैं अंतिम प्रश्न उपस्थित करता हूँ। इसी पर शास्त्रार्थ का अंतिम निर्णय निर्भर है।

कोला०—(धीरे से) पूछो।

यामुन—"मेरी धारणा है कि श्रीमती राजमहिषी परम पतिव्रता हैं।" क्या आप इस प्रश्न का नास्तिपक्ष में उत्तर देकर मेरी धारणा को असत्य ठहरावेंगे ?

(कोलाहल का चेहरा पीला पड़ जाता है; लोग मारे हर्ष के फूले नहीं समाते हैं)

यामुन—कुछ तो बोलिए महोदय !

मल्लि०—यामुन, क्यों पंडितजी का मौनव्रत भंग करते हो ? जानते नहीं, पंडितजी एक बड़े भारी योगी हैं। हाँ, तभी तो मौनव्रत धारण कर लिया है। गीता में लिखा है—"मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्"—अर्थात् मौन भगवान् की एक विभूति है। किंतु—

रंग०—बस, अब 'किंतु' पर कृपा करो।

मल्लि०—अच्छा, कर दी कृपा। किंतु—

यामुन—महोदय, कुछ तो कहिए। क्या आप इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सकेंगे ?

(कोलाहल सिर हिलाते हुए 'नाहीं' करते हैं; सब लोग 'परास्त हो गया'—'परास्त हो गया' कहते हुए कोलाहल मचाते हैं)

मंजु०—वत्स यामुन ! आओ, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ।

(महारानी मञ्जुभाषिणी यामुन को गोद में लेकर वात्सल्य-स्नेह से बार-बार प्यार करती हैं)

वीर०—(यामुन को विजय-माल पहनाकर) वत्स, आज से तुम मेरे आधे राज्य के अधिकारी हुए। आओ मैं तुम्हारा मस्तक सूँघ लूँ। (खड़े होकर) प्रिय प्रजावर्ग ! प्रतिज्ञानुसार आज मैं यामुन को अपना आधा राज्य देता हूँ। आप लोगों में से किसी को कोई आपत्ति तो नहीं है ?

(किसी को नहीं—किसी को नहीं)

वीर०—आप लोगों की प्रसन्नता देखकर मैं यामुन को अपना आधा ही नहीं, संपूर्ण राज्य सौंपता हूँ। आज से इस राज्य के यही युवराज होंगे। किसी का कोई आपत्ति तो नहीं ?

(किसी को नहीं—किसी को नहीं)

वीर०—अच्छा, तो अब मैं वत्स यामुन को राज्याभिषिक्त करता हूँ। आप लोग पूर्णतः सहमत हैं न ?

(पूर्णत सहमत है—पूर्णत सहमत हैं)

वीर०—आओ वत्स !

(यामुन को महाराज वीरसेन अपने हाथ से राज्य-तिलक करते हैं। सारी सभा "धन्य-धन्य" की ध्वनि से गूँज जाती है)

मंजु०—भैया, मैं तुम्हें क्या दूँ ? बेटा, आज से तुम मेरे धर्म-पुत्र हुए।

यामुन—(अभिवादन कर) मातः श्री ! सेवक कब आपका पुत्र नहीं था।

मंजु०—(प्यार करके) लाल !

आओ, वारे लाडिले, खेलो पलकनि माहिं ;
बाल-विनोद विलोकि नित, मेरे नैन सिराहिं।
मेरे नैन सिराहिं अंक लहि अलक सँवारौं ;
चूमि-चूमि मुख-कंज प्रान-धन सरबस वारौं।
बसो लला, मो हिए, हुलसि आनंद सरसाओ ,
कहि-कहि मैया मोहि, लाडिले किलकत आओ।

वीर०—प्रिये ! क्यों इतनी स्नेहाधीर होती हो ? तुम्हारा प्रिय यामुन अब यहीं रहेगा। (प्रजावर्ग से) भाइयो, पंडितराज कोलाहल के संबंध में आप लोगों का क्या विचार है ?

(जो युवराज कहें, वही स्वीकार है)

वीर०—यामुन, क्या कहते हो ?

यामुन—मैं क्या कहूँगा ? मेरे तो वह पूज्य हैं। पर इतना

अवश्य कहूँगा कि उन्होंने निरपराध पंडितों पर पंडित-कर लगाकर महान् पाप किया है। इस घोर पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये, मेरी सम्मति में, उन्हें श्रीजनार्दनतीर्थ में जाकर तप करना चाहिए।

वीर०—अच्छी बात है। यही व्यवस्था कर दूँगा।

मल्लि०—उठाओ अपना बोरिया-बँधना। खूब तप करना। तप करते-करते मुक्ति-फल हस्तामलकवत् प्राप्त हो जायगा।

रंग०—तुम भी साथ-साथ चले जाओ—जाओ, अपने उत्पातों का प्रायश्चित्त कर आओ।

मल्लि०—मुझे तपस्या से क्या काम! मैं ठहरा भक्त! सुनो—

आराधितो यदि हरिस्तपसा तत कि?
नाराधितो यदि हरिस्तपसा तत किम्?
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा तत किं?
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्?

रंग०—धन्य यह जीवन्मुक्तावस्था!

वीर०—यामुन, जो प्रश्न तुमने उपस्थित किए थे, उनका उत्तर क्या तुम स्वयं नास्तिपक्ष में दे सकते हो?

यामुन—निस्संदेह श्रीमन्!

वीर०—अच्छा, कहो।

यामुन—जो आज्ञा। सुनिए—

१—जैसे एक वृक्ष उद्यान नहीं कहा जा सकता, वैसे ही एक पुत्रवाली माता संतानवती नहीं मानी जा सकती। कोलाहल अपनी माता के अकेले हैं, अतएव इस न्याय से उनकी माता वंध्या ही है।

२—राजा स्वय चाहे जैसा पुण्यात्मा हो, पर उसे प्रजाकृत पाप लगता है। 'राजा राष्ट्रकृत पापम्' इसका प्रमाण है। अतः आप या कोई भी राजा पुण्यात्मा नहीं हो सकता।

३—विवाह के अवसर पर कन्या इद्र, कुबेर, अग्नि आदि देवों को समर्पित की जाती है। इस प्रकार श्रीमतीजी भी, धृष्टता क्षमा हो, पूर्ण पतिव्रता नहीं कही जा सकतीं।

(प्रश्नों का यथार्थ उत्तर सुनकर महाराज वीरसेन यामुन को हृदय से लगा लेते हैं)

वीर०—यामुन, आज मै तुम्हें 'आलबंदार'-उपाधि से विभूषित करता हूँ।

यामुन—श्रीमान् की कृपा ही मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ पदवी है।

मल्लि०—अरे भाई यामुन, आज किस शुभ मुहूर्त पर आश्रम से चले थे! अनायास ही युवराज बन बैठे! श्रीमतीजी ने तुम्हें अपना पुत्र मान लिया, संपूर्ण राज्य हड़प लिया, और विद्वज्जन कोलाहल को सहज ही परास्त कर दिया। अब मुझे भी तो कुछ दिलाओ!

मंजु०—तुम क्या चाहते हो?

मल्लि०—वही गोल-गोल लड्डू। आश्रम में और तो सब पदार्थ मिल जाते हैं, एक लड्डू ही नहीं मिलता। अहा! बड़ा ही मधुर होता है।

(महारानी मल्लिनाथ को लड्डू खिलाती हैं,
और वह गाता-नाचता है)

गीत

जगत् में लड्डू ही इकसार;
सूरज लड्डू, चंदा लड्डू—लड्डू सब ससार।
लड्डू ही पर लट्टू होकर, खेल रचै करतार;
वाद-विवाद सभी लड्डू पर, लड्डू ही शृंगार।
बिन लड्डू शोभा सब फीकी, लड्डू ही फल चार;
गोल-गोल मीठे लड्डू पर ब्रह्म होत बलिहार।

(सब लोग खूब हँसते हैं)

मंजु०—वत्स, चलो कुछ जलपान कर लो।

यामुन—माता, अभी मुझे आश्रम जाने की आज्ञा दीजिए। बिना गुरुदेव का दर्शन किए मैं जलपान कैसे करूँगा! संध्या को आज्ञा-पालन करूँगा।

मंजु०—अच्छी बात है।

वीर०—(उपस्थित लोगों से) शांति के साथ शास्त्रार्थ सुनने के लिये आप लोगों को धन्यवाद। अब यह सभा विसर्जित होती है।

(हर्ष-ध्वनि करते हुए सबका प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—मदुरा का एक उद्यान

समय—प्रातःकाल

(तीन मदुरा-निवासी खड़े बात कर रहे हैं)

पहला—युवराज की जयंती भी तो आज ही है।

दूसरा—नहीं कल होगी।

तीसरा—नहीं, आज ही है भाई। मैं प्रासाद की ओर से आया हूँ। वहाँ बड़ी तैयारी हो रही है।

दूसरा—जयंती तो मध्वागार-प्रासाद में होगी न?

तीसरा—हाँ दादा, वहीं होगी। क्यों, चलोगे न?

दूसरा—अवश्य।

पहला—ऐसा मंगलोत्सव मदुरा मे क्या कभी हुआ है। सौभाग्य से ऐसा शुभ दिन आता है।

दूसरा—भगवान् करे, प्रतिवर्ष हम यामुन-जयंती मनावें!

पहला—तथास्तु।

दूसरा—भई, इसे कहते है युगांतर! देखते-देखते कलि-युग कृतयुग मे परिणत हो गया। क्या यह सब दैवी लीला नही है?

पहला—क्यो नहीं। जिस घड़ी से यामुन ने राजप्रासाद में पदार्पण किया है, तभी से सुख-समृद्धि का प्रकाश इस राज्य मे प्रति क्षण बढ़ता जा रहा है।

तीसरा—प्रकृति-चंचला श्री-लता भी उसी दिन से राज्य-वृक्ष से लिपटती जा रही है।

पहला—और धर्म भी चारो पदो से उपस्थित है।

तीसरा—दादा, यह तो बतलाओ, यह राजकुमार किस वर्ण का है? लक्षणो से तो ब्राह्मण-कुलोत्पन्न जान पड़ता है, पर राज्य-भार वहन करने में किसी क्षत्रिय-कुमार से कम नहीं है। क्या कभी महर्षि भाष्याचार्य से इसके जन्म-कुल-संबंध की बातचीत नहीं आई?

दूसरा—यही सुना है कि युवराज का जन्म उत्तर-भारत में यमुना-तट पर हुआ था, और इसी से इनका नाम यामुन

रक्खा गया। यह भी ज्ञात हुआ है कि इनके पिता और पितामह पहुँचे हुए महात्मा थे

पहला—भाष्याचार्यजी के आश्रम में यह कैसे और कब आए?

दूसरा—पता नहीं।

पहला—अस्तु। इन सब बातों से हमें क्या प्रयोजन? हम तो यही कहेंगे कि यह युवराज श्रीमान् और श्रीमती के अनेक जन्म-संचित पुण्यों का ही फल है।

तीसरा—सत्य है। युवराज जैसे अपूर्व मेधावी, निखिल-शास्त्र-निष्णात, ओजस्वी और भगवद्भक्त हैं, उसी प्रकार वह अनुपम अश्वारोही, प्रकांड पराक्रमी, विविध-कला-विशारद, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रजावत्सल और दयालु हैं। वास्तव में यामुन एक आदर्श राजकुमार है।

पहला—तीन गुण तो अलौकिक ही हैं—भगवद्भक्ति, प्राणिमात्र में समभाव और निरंतर परोपकार-वृत्ति।

तीसरा—स्थान-स्थान पर उन्होंने अनाथालय, चिकित्सालय, विद्यालय और धर्मशालाएँ स्थापित कर प्रजा-मात्र को प्रसन्न कर लिया है। स्वयं अपनी आँखों से दीन-दुखियों को देखते और उनकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं। वह नित्य वेश बनाकर राज्य में पैदल घूमा करते हैं। न तो उन्हें अपनी अगाध

विद्या का ही गर्व है, और न ऐश्वर्य की ही लिप्सा है। उनके आँसू किसानों और मजदूरों के पसीने का स्वागत किया करते हैं। पद-दलितों और पराधीनों की दुःख-भरी लंबी आह में उनका अंतर्नाद सुनाई पड़ता है। संत-सेवक तो ऐसे हैं कि कुछ कहने को नहीं। निरुप्यान आल्वार कौन हैं? हम लोग उनकी छाया छू लें, तो सचैल स्नान करना पड़े! परंतु यामुन उनके स्थान पर जाकर उनका चरण-स्पर्श किया करते हैं!

दूसरा—ऐसे उदाराशय महापुरुष संसार में विरले ही मिलेंगे। भई, हम उनके उदार विचारों का यथार्थ रहस्य समझ ही नहीं सकते।

पहला—दादा! सुनते हैं, युवराज की नवविवाहिता धर्म-पत्नी सौदामिनीदेवी भी अपने पतिदेव की प्रतिमूर्ति हैं। क्या यह मणि-कांचन-संयोग नहीं है?

दूसरा—एक तो सौदामिनीदेवी पहले ही सुशीला थीं, दूसरे महामना यामुन के सहवास से उनकी अंतरात्मा और भी विशुद्ध हो गई है। सत्संग का प्रभाव कौन कह सकता है।

पहला—एक बात तो उनमें बहुत ही ऊँच है।

दूसरा—कौन-सी!

पहला—चापलूसों से दूर रहने की।

दूसरा—सच है। चापलूसी का दुष्परिणाम युवराज भली भाँति जानते हैं। चापलूस ही तो राज्य का सर्वनाश करते हैं। ठकुरसोहाती बातें कहकर अपने स्वामी को कुमार्ग पर ले जाना और उन्हें घोर नरक में गिराना इन चापलूसों का सहज व्यापार है। यामुन इन मधु-मुख विषैले सर्पों की गति खूब जानते हैं।

तीसरा—मुझे तो भई यामुन के युवराजकाल में कभी-कभी मदुरा में राम-राज्य देखने में आ जाता है।

दूसरा—परमात्मा इस राज्य-लता को युगानुयुग सुख-समृद्धि से संपन्न रक्खे।

पहला—दादा, मुझे इस फूल में एक काँटा दिखाई देता है।

दूसरा—कौन-सा काँटा?

पहला—जान पड़ता है, युवराज यामुन कुछ दिनों में राज्य छोड़कर किसी गिरि-गुहा को अपना निवास-स्थान बनावेंगे। माना कि वह राज्य-प्रबंध बड़ी ही कुशलता से कर रहे हैं, सबसे हिलते-मिलते भी प्रेम से हैं और सांसारिक आमोद-प्रमोद में भी रुचि दिखाते हैं, किंतु मन-ही-मन वह कुछ विरक्त-से रहा करते हैं।

तीसरा—हाँ, उन्हें एकांत-सेवन जितना प्रिय है, उतना

राज्यैश्वर्य नहीं। राज-श्री से तो वह परदारा की तरह बचा करते है। राजप्रासादों की अपेक्षा उन्हें निर्जन वन, नदी-नाले और पहाड़-टीले ही अधिक भाते हैं।

दूसरा—यह काँटा नहीं, पराग है। राजपाट छोड़कर अंत में ईश्वराराधन करना ही तो राजों का सनातन धर्म है। एक क्षुद्र राज्य छोड़कर यदि उन्हें त्रिलोकोत्तर विशाल साम्राज्य मिल रहा है, तो इससे अच्छा भला और क्या हो सकता है? हम अपने स्वार्थ-वश उनकी विरक्ति को काँटा समझ रहे है। वास्तव में वह अक्षत पराग है। इसी विरक्ति के आश्रय से यामुन किसी दिन जीव-मात्र का उद्धार करेंगे, इसमें संदेह नहीं।

पहला—अच्छा, अब मध्वागार प्रासाद को चलना चाहिए। विलंब करने से हम लोग जयंती का उत्सव न देख सकेंगे।

दूसरा-तीसरा—ठीक है, चलो।

(तीनों का प्रस्थान)

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—राज-उद्यान

समय—संध्या

(श्रीमती सौदामिनीदेवी अपनी सखी माधवी के साथ घूम रही हैं)

माधवी—आज तो आप बड़ी प्रसन्न देख पड़ती हैं ! आँखों में फुलवारी तो नहीं फूली है ! शरीर तो मानों कदंब-फल हो रहा है । क्या बात है प्यारी ! धीरे-धीरे कुछ गुन-गुना भी रही थीं । मैं माधवी-कुंज में खड़ी-खड़ी यह सब देख रही थी ।

सौदामिनी—तेरी ही कुंज ठहरी माधवी ! तू भी तो कुछ गाती आ रही थी । तनिक वह मधुर गीत सुना तो सखी ।

माधवी—गीत क्या है, आप ही का टूटे-फूटे शब्दों में चित्र उतारा है ।

सौदामिनी—चल, रहा तेरा चित्र । कवि और चित्रकार, दोनों ही एक साथ बनना चाहती है क्या ?

माधवी—श्रीमतीजी, नई बात तो है नहीं । इतना अवश्य है कि कवि चित्रकार होकर भी उससे कुछ और अधिक

होता है। इसी से तो ललित कलाओं में कविता का ऊँचा स्थान माना गया है।

सौदा०—और संगीत कहाँ जायगा? मै तो संगीत को ही ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ मानती हूँ।

माधवी—इसमें संदेह ही क्या? अंतर इतना ही है कि म कविता और संगीत को एक ही समझती हूँ, दोनों में अन्योन्याश्रय सबंध मानती हूँ।

सौदा०—ठीक है। अच्छा, तो अपना वह चित्र संगीत के स्वच्छंद छंद मे खीच तो सही। मैं भी देखूँ, कैसा है?

माधवी—जो आज्ञा। सुनिए—

गीत

गावति कहा रँगीली ठाढी!
ओंठनि ही मुसुकाति गुनीलो, चढी दृगनि रति गाढी।
अबहीं विरह-उदेग-सिंधु तें बूड़त पिय गहि काढी,
याही तें तेरे इन नैननि नेह-नदी-सी बाढ़ी।

कहिए, चित्र ठीक-ठीक उतरा न?

सौदा०—(मुसकिराकर) मुझसे क्या पूछती है। जहाँ कविताओं पर पुरस्कार मिलता हो, वहाँ पूछ।

माधवी—समझ गई।

सौदा०—समझ गई? तो वहीं जा, आज इस उद्यान में

मैंने श्रीलक्ष्मी-नारायण का हिंडोलोत्सव मनाने का विचार किया है। जा, उन्हें भी उत्सव देखने को बुला ला।

माधवी—युवराज इस समय श्रीमती माताजी के चरणों की सेवा कर रहे होंगे। थोड़ी ही देर में मध्वागार में पधारेंगे। उसी समय उनसे यहाँ पधारने की प्रार्थना करूँगी। सुना है, दो-चार दिन में वह भ्रमण करने जायँगे।

सौदा०—मैंने भी साथ चलने को कहा था; पर उन्होंने मेरी प्रार्थना यों ही हँसी मे उड़ा दी।

माधवी—घोर पर्वतों पर आपका जाना ठीक भी तो नहीं है प्यारी।

सौदा०—तू तो उधर ही अपना स्वर मिलाएगी। चल, अब यहाँ से चलें।

माधवी—जो आज्ञा।

(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—दक्षिण का एक पहाड़ी प्रांत

समय—तीसरा पहर

(युवराज यामुन रथ पर चढे अपने वृद्ध सारथी से बात कर रहे है)

यामुन—आर्य, क्या यही नीलाचल का सीमांत है? तब तो हम लोग बहुत समीप आ गए हैं।

सारथी—प्रभो, नीलाचल यहीं से आरंभ होता है। सामने के गगन-चुंबी धुआँ धार शिखर नीलगिरि के ही हैं। अच्छा हो, यदि श्रीमान् दो घड़ी यहाँ विश्राम ले लें।

यामुन—'अच्छी बात है। घोड़े खोलकर इस हरे चौरस मैदान में छोड़ दो। देखो, पसीने से कैसे लथपथ हो रहे हैं। बड़ी लंबी यात्रा हुई! कहाँ से कहाँ आ पहुँचे। अब आप यहीं रथ के पास रहिए। मैं सामने के झरने से ठंडा पानी लेने जाता हूँ।

सारथी—प्रभो! अकेले न जाइए। आपका जाना उचित भी नहीं है; क्योंकि आप इस गहन वन में कभी आए भी नहीं हैं। मैं पानी लाता हूँ, आप यहीं विराजें।

यामुन—सो तो कोई बात नहीं; पर कदाचित् आप वात्सल्य-स्नेह को क्षण-मात्र भी पृथक् करना नहीं चाहते। जैसी आपकी इच्छा।

(सारथी का प्रस्थान)

यामुन—(चारों ओर देखकर) सचमुच ही इस प्रांत की प्राकृतिक सुषमा अनोखी है। अहा!

निरखि नीलगिरि-शिखर, फूल मनु फूले नैननि;
कह्यो न कछु वे जाय, रह्यो थकि यह सुख बैननि।
निर्जन वन अति सघन घिरी घन पर्वत-माला,

नभ चुवा चहुँ शृंग-कोट-कंगूर विसाला।
सुभग नारियल ताल तपत तप ठाढे ध्यावें;
गगन-मांत भौंर अंक उमगि अति आनंद पावैं।
कलकल निर्भर भरत, सिमिटि नद होत सुहावन;
कूजत करत कलोल विहँग जहँ-तहँ मनभावन।
सिलाजीत-रस स्रवत, पसीजत प्रेमी पाहन;
उछरत, कूदत, चढत चपल कपि रस-अवगाहन।
सोवत कोउ मृग अमित, दावि दातनि तृन-अंकुर;
कोउ सींगनि सहराय सावकनि प्यार करत उर।
घुरघुरात वाराह, धमकि धरती कहु खोदत;
कहुँ गयद मदमत्त चिक्करत, धीरज खोवत।
विविध वरन वन-फूल सुहावन सुरभित फूले;
गुंजत मधुकर-पुंज, उड़त चहुँ मधु-रस-भूले।
ऐसो कछु मन होय, बैठि इत हरि-गुन गाऊँ,
राज-पाट सब छाड़ि सहज श्रीपति-पद ध्याऊँ।

अहा! यह निखरी हुई प्राकृतिक छटा यहीं देखने को मिली है। राजप्रासाद की राज-श्री और वन-श्री में पृथ्वी-आकाश का अंतर प्रतीत होता है। यहाँ जो सुख-शांति की उत्तुंग तरंगें हृदय पर नाच रही हैं, उनका राजप्रासाद के कृत्रिम विलासों में आभास भी नहीं। वास्तव में पुरुष-प्रकृति की सच्ची विहारस्थली यहीं है। (कुछ सोचकर)

परिवर्तन भी एक गूढ़ रहस्य है। कौन जानता था कि यह अछूता वन-कुसुम किसी विलास-माला में गूँथा जायगा ! कौन जानता था कि मेरी स्वर्गीय हृत्तंत्री की तरल झंकार राजप्रासादों की ऊँची दीवालों से टकराती फिरेगी !!

नेपथ्य में—

"छोड़ दे रे चांडाल ! छोड़ दे !! हाय राम रे !!!"

यामुन—(आगे बढकर) ऐं ! किधर से यह आर्तनाद आ रहा है ? देखूँ—

(एक संन्यासी एक बुढिया के केश पकड़े पीटता चला आ रहा है)

यामुन—कौन है नराधम ? छोड़, नहीं तो अभी तेरा सिर धड़ से अलग करता हूँ।

(म्यान से तलवार खींचते हैं)

वृद्धा—(रोती हुई) बेटा, तेरी जय हो। इस दुष्ट से मुझे छुड़ा ले बेटा !

यामुन—माता, धीरज धरो। आप कौन हैं ?

वृद्धा—पूछकर क्या करोगे भैया ? हा राम !

यामुन—माता, परिचय देने में क्या हानि है ?

वृद्धा—बेटा, सुन—

जाकी छाया बिरमि, शांति-समता सरसानी ;
जाको हिये लगाय ज्ञान-गरिमा हुलसानी।

जाके दरशन-हेतु, विरति-हठजोग जगायो,
जाके रग में बूड़ि, मुक्ति निज अग रंगायो।
जेहि शुक सनकादिक उमगि, उर दिव्य रूप-रस नित लहैं;
अस परमहंस-मन-भावती 'भक्ति' भागवत मोहि कहैं।

(युवराज यामुन भक्ति का साष्टाग प्रणाम करते हैं)

यामुन—(हाथ जोड़कर) और, मातेश्वरी, यह दुरात्मा कौन है ?

भक्ति—इसका भी परिचय देती हूँ। सुन—

जाकी छाया परसि पुन्य सब लोप भयो है,
जाको हिये लगाय छाय कलि-कलुष गयो है।
जाके दरशन-हेतु, कपट नित हठव्रत ठान्यो;
जाके रग में बूड़ि, ज्ञान निज रूप भुलान्यो।
जेहि मद व्यभिचारादिक व्यसन, सेइ सदा पुलकित रहें,
अस दुष्ट जनन मन-भावतो "दम्भ" याहि बुधजन कहैं।

यामुन—सन्यासी, और यह कर्म ! माता, कुछ समझ में नहीं आया।

भक्ति—बेटा—

धारि भेष यति को यह भगवा बसन रँगाय,
'सोहं-सोहं' जपत है, ब्रह्म भाव दरसाय।
ब्रह्म-भाव दरसाय, वेद वेदात सुनावै,
बनि निर्लेप निरीह जगत भ्रमरूप बतावै।

विविध बिलास बिभोर भयो इद्रिन कौ चेरो ;
निर्गुनवाद प्रचारि कह्यो चाहत लय मेरो ।

और बेटा, तू कौन है ? धर्मप्राण यामुन तो नहीं है ?

यामुन—पतितोद्धारिणी ! आपसे क्या छिपा है । आप तो सदा ही दासों के अंतःपुर मे निवास किया करती हैं। दास यामुन ही है।

(भक्ति वात्सल्य-भावावेश में बार बार यामुन को प्यार करती है)

भक्ति—जो इस दुरात्मा से तू मेरा त्राण न करेगा, तो इस पवित्र भूमि से सदा के लिये मेरा लोप हो जायगा ।

(दभ भयभीत हो भागना चाहता है)

यामुन—कहाँ भागकर जायगा दुरात्मन् ? अभी तुझे यम-लोक भेजता हूँ।

(यामुन के पैरों पर गिर पडता है)

दंभ—दुहाई धर्म की । कृपानिधान ! शरणागत को क्या प्राण-दान न मिलेगा ?

भक्ति—(यामुन का हाथ पकड़कर) बेटा, शरणागत को छोड़ दे ।

यामुन—मातेश्वरी, शठ के साथ दया दिखाना कायरता है। दुष्टों पर दमन करना ही सच्चा धर्म है । इस खड्ग को बिना रक्त-रंजित किए म्यान में नहीं रक्खूँगा । इस दुष्ट को जीवित नहीं छोड़ूँगा ।

भक्ति—बेटा, शरणागत पर हाथ उठाना भी कायरता है। शक्ति का दुरुपयोग करना भी निर्बलता है।

यामुन—प्रत्युत्तर देना, एक प्रकार से, धृष्टता है। पर इतना अवश्य कहूँगा कि इसी दयाभाव ने आपके सेवकों की संसार में दुर्दशा की है, इसी अहिंसा ने शक्ति से विमुख कराकर उन्हें पराधीन किया है।

भक्ति—वत्स ! दुर्दशा नहीं, वह उनकी विजय है; पराधीनता नहीं, वह उनकी स्वाधीनता है।

यामुन—धन्य है यह जन-वत्सलता, शरणागत-रक्षा और दयालुता ! अभय-प्रदान की सुर-सरिता आप ही के चरणों से उत्पन्न हुई है। फिर इस दुष्ट को क्या दंड दूँ माता ?

भक्ति—मुझ पर इस चांडाल की छाया न पड़े, बस यही चाहती हूँ।

यामुन—(दंभ से) वंचक ! सावधान ! आज से भूलकर भी भक्त भागवतों के सामने न जाना।

भक्तजन जहँ करैं श्रीहरि-कीरतन लव लाय ,
ध्यान श्रीपति को धरैं उर नैन नीर वहाय।
पियैं जह जन हरि-कथामृत प्रेम-विह्वल होय ;
भूलिहू तहँ जाय मति तू प्रान दीजौ खोय।
'कृष्ण नारायण हरे !' जहँ जपै कोउ 'श्रीराम !'

कंठ तुलसी, तिलक मस्तक जहँ लखौ हरि-नाम ।
भक्तिभाव-विभोर भावुक जहाँ दीसै कोय;
भूलिहू तहँ जाय मति तू प्रान दीजौ खोय ।

भाग जा, अब यहाँ तू क्षण-मात्र भी नहीं ठहर सकता ।

दंभ—दुहाई महाराज की ! जय हो धर्मावतार !

(दंभ का प्रस्थान)

यामुन—माता, कष्ट न हो तो घड़ी-भर इस रथ पर विराज-कर दास को कृतार्थ करें ।

भक्ति—बेटा, रथ पर बैठकर क्या करूँगी ? रथ और सिंहासन मेरे किस काम के ? मेरी सहज सहचरी तो एक प्रकृति ही है । इस हरी दूब पर बैठना ही मुझे उचित है । निर्जन वन, नदी-तीर, गिरि-गुहा आदि एकांत स्थान ही मेरे लिये उपयुक्त हैं ।

यामुन—आपके श्रीचरणों का आसन तो एक भक्तों का हृदय ही हो सकता है, किंतु उस पवित्र आसन का यहाँ पूर्ण अभाव है ।

भक्ति—हृदय-दुलारे ! तेरे पास वह आसन न होता, तो मैं यहाँ आती ही क्यों ? वत्स ! तेरी अगाध भाव-लहरी में आज मेरा अधीर मन कैसा उछल रहा है, इसे मैं ही जानती हूँ ।

यामुन—(गद्गद वाणी से) मातेश्वरी ! यद्यपि यह देव दुर्लभ चरण मुझे अनायास ही प्राप्त हो गए हैं, तथापि मैं अभी, अनेक जन्मार्जित पाप-कर्मों के कारण, इनका सच्चा अधिकारी नहीं हो सकता । इस चरण-चंद्रिका की एकाध कृपा-किरण यदि इस अँधेरे हृदय पर पड़ जाय, तो दूसरी बात है ।

भक्ति—वत्स, केवल एक शरणागति ही भगवत्-सान्निध्य प्राप्त कराने में समर्थ है । बेटा, भगवान् का क्या यह सिद्धांत-वाक्य नहीं सुना कि—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ;
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रत मम ।"

अपितु—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं व्रज ,
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।"

अशरण-शरण नारायण ने अपने एकांत भक्तों को इस वाक्य से कैसा संतुष्ट किया है—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते ;
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम् ।"

अतएव बेटा, भगवान् के चरणों की शरण अनन्य भाव से, आत्यंतिक विरहासक्ति द्वारा, यथाशीघ्र प्राप्त कर ।

यामुन—(भक्ति के चरणों पर मस्तक रखकर) कृपामयी ! यह असमर्थ क्या कर सकता है ? अधमोद्धारिणी ! इन चरणारविंदों की दिव्य नौका ही इस दासानुदास को उस पार पहुँचा सकती है । अहा !

जिन चरनन कों ध्याय शेष शुक सनकादिकवर ;
भे प्रातस्मरणीय भागवत-भूषन भू पर ।
महिमा अमित अपार सदा निर्भय जग घूमैं ,
कृष्ण-रसासव-छके प्रेम-मद-माते झूमैं ।
जा पद पदुम-पराग हेतु योगी हू तरसैं ,
भक्ति-चरण सोइ कृपा-वारि मो पै नित बरसैं ।

भक्ति—(स्नेह-पूर्वक) बेटा, तू उस देव-दुर्लभ वैष्णव-पद को अवश्य प्राप्त करेगा, और जो तेरे अनुगामी होंगे, वे भी अनायास भगवत् सान्निध्य प्राप्त कर दिव्य आनंद भोगेंगे । यामुन, अनंत ब्रह्मांडधारी भगवान् शेष नारायण अवतीर्ण हो ललिादेवी लक्ष्मी की आज्ञा से, तेरा तथा तेरे शिष्यों का शिष्यत्व स्वीकार करेंगे । उन्हीं के द्वारा वैष्णवता की दिव्य ध्वजा भू-मंडल पर फहरावेगी । बेटा, अभी कुछ दिन और राजसी भोग । जिस दिन तुझे एक वीणाधारी वृद्ध महात्मा का दर्शन हो, उसी क्षण तू राज-पाट छोड़कर उनके साथ चल देना । कहाँ, किसलिये ?

यह उसी दिन ज्ञात होगा। बस, अब मैं अंतर्द्धान होती हूँ।

(देखते-देखते भक्ति अंतर्द्धान हो जाती है)

यामुन—(चकित होकर) ऐं! यह स्वप्न था! किस दिव्य देवी ने मुझे अपना दर्शन दिया था? शेष का अवतार होगा! वह मेरा और मेरे शिष्यों का शिष्यत्व स्वीकार करेंगे! किमाश्चर्यमतः परम्! (कुछ सोचकर) अरे, सारथी कहाँ गया? अभी तक जल न मिला होगा? इस घोर वन में उसे मैंने क्यों भेजा? न-जाने, बेचारे की क्या दशा हुई होगी?

(सारथी फल और जल लेकर आता है)

यामुन—(उत्कंठा से) आर्य! विलंब क्यों हुआ? कुशल तो है?

सारथी—प्रभो, यहाँ से उत्तर दिशा की ओर एक बड़ा ही चुलबुला और सुंदर नाला बह रहा है। उसके आसपास का सघन वन देखते ही बनता है। उसी नाले से यह मीठा जल और तट के वृक्षों से यह फल लाया हूँ। नाम मुझे भी इन वन्य फलों का मालूम नहीं है। कुछ तो वहाँ की प्राकृतिक छटा देखने में और कुछ एक दूसरे कारण से विलंब हुआ है।

यामुन—किस दूसरे कारण से आर्य?

सारथी—सुनिए, उस नाले के पास कुछ प्रमत्त शाक्त जन

महामाया छिन्नमस्ता की आराधना कर रहे हैं, उसी लोम-हर्षण दृश्य के देखने में इतनी देर हुई है।

यामुन—उन्हें पशु-बलि चढ़ाते देखा है क्या ?

सारथी—जी हाँ, उन नर-पिशाचों की लीला सचमुच ही भीषण है।

यामुन—उनमें ब्राह्मण-क्षत्रिय भी थे ?

सारथी—क्या कहूँ ! हाँ, थे तो। कुछ शिखा-सूत्रधारी माथे पर लाल चंदन पोते। काल भैरव के-ऐसे पुरुष थे। कैसी कराल क्रीड़ा थी ! मद्य-मांस की गंध से वहाँ का पवित्र वायु-मंडल ऐसा भ्रष्ट हो गया है, जैसे पूर्ण कलाधर की कांति राहु की काली छाया पड़ जाने से अथवा तपस्या का पुण्य-फल क्रोध की ज्वाला से जलकर मलिन हो जाता है। प्रभो, क्या इस प्रकार की आराधना से भगवती छिन्नमस्ता प्रसन्न हो जायँगी ? क्या इस पैशाचिक कांड द्वारा उन लोगों की धार्मिक साधना सिद्ध हो जायगी ?

यामुन—(सिर पर हाथ रखकर) क्या बताऊँ ! कलि-काल जितना न कराए थोड़ा है। मुक्तिस्वरूपिणी शक्ति की, भक्ति-रूपा शक्ति की अथवा ज्ञान-शक्ति एवं कर्म-शक्ति की आराधना करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। इन्हीं शक्तियों के साधक सच्चे शाक्त हैं, पशु-हत्याएँ करनेवाले, मद्य-मांस उड़ानेवाले

पतित वाममार्गीय नहीं। आर्य, लोक में तामसी प्रवृत्तियाँ अपना साम्राज्य फैलाती जा रही है। हिंसा, क्रूरता, विलासिता, अविद्या आदि आसुरी संपत्तिया घर-घर पैठती जाती हैं। न कहीं ज्ञान का निरूपण सुन पड़ता है, और न कहीं कर्म और भक्ति का आराधन देख पड़ता है। अज्ञान, अकर्मण्यता और नीरसता ने इस अभागे देश में अपना विशाल विजय स्तंभ गाड़ दिया है। देखें, भगवान् इस मृतप्राय धर्म-प्राण भारतवर्ष का कब त्राण करते हैं? आर्य! इस पैशाचिक कांड का शीघ्र ही विध्वंस कर देना चाहिए। चलो, जल-पान पीछे होगा।

सारथी—जो आज्ञा।

(रथारूढ हो दोनों का नाले की ओर प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—तुलसी-वाटिका

समय—संध्या

(महारानी मंजुभाषिणी अपनी सखियों के साथ तुलसी-प्रदक्षिणा करती हुई गाती है)

गीत

जयति जय श्रीतुलसी महरानी ;

सालिगराम-भावती भामिनि, गोविंद की पटरानी ।

वृंदा है वैकुंठ बिराजी, अविचल भक्ति भवानी,
दिव्य गंध लहि ज्ञान भुलाने सनकादिक-से ज्ञानी।
निज पति सीस-विहार देखि नित कमला रहति खिस्यानी;
भक्त भागवत-कठ विराजी हरि चरितामृत-सानी।
करहु कृपा अनपायिनि हम पै, स्वामिनि परम सयानी;
नित नव भक्ति होय हरि-चरननि श्रीतुलसी महरानी।

(आरती उतारकर सब तुलसी को प्रणाम करती हैं)

कमला—(महारानी से) श्रीमतीजी, दो दिन से संध्या-आरती के समय बहूजी क्यों नहीं पधारतीं ?

मंजु०—क्या पूछती है कमला ! क्या तू नहीं जानती कि सौदामिनी ने दो दिन से मुँह में अन्न का एक दाना भी नहीं डाला ? दिन-रात आँसुओं से आँचल भिगोती रहती है। हा ! मेरी प्यारी पुतली को क्या बदा था !

(आह लेती हैं)

कमला—आज इतनी ही बात सुनी थी कि उन्हें कुछ ज्वर-सा हो आया है। क्या हुआ उन्हें श्रीमतीजी ?

मंजु०—(आँखें डबडबाकर) क्या बताऊँ कमला ! सौदामिनी बहू की भोली-भाली मूरत देखकर छाती फटी जाती है। बहन, तू तो जानती है कि जब से यामुन नीला-

चल से लौटा है, तभी से उसका चित्त न-जाने कैसा हो गया है। पहले कभी-कभी सौदामिनी से कुछ बात भी कर लेता था, पर इधर दस-बारह दिन से उस अभागिनी की ओर वह आँख उठाकर देखता तक नहीं, न मुझसे ही जी खोलकर बात करता है। जिसे मैंने गोद में सुलाया, पलकों पर पाला, जिसे कभी घड़ी-भर भी भूखा-प्यासा नहीं देखा, आज हा! उस हृदय-दुलारे प्यारे यामुन की क्या दशा हो गई है! बहन, जब देखो तब यामुन अकेला ही अशोक-वाटिका में बैठा रहता है। मन-ही-मन न-जाने क्या गुन-गुनाया करता है। कभी रोता है, तो कभी हँसता है। कभी सारा दिन भूखे-प्यासे ही चला जाता है। मुझे तो यह लक्षण उन्माद के-से दीखते हैं। यामुन की दशा किसी तरह देख भी लेती हूँ, पर बहू की ओर देखकर ऐसा लगता है कि धरती फटे और उसमें समा जाऊँ।

(रोती है)

कमला—(आँसू भरकर) स्वामिनीजी, आपने कभी कुमार से उनकी उदासीनता का कारण नहीं पूछा?

मंजु०—पूछकर क्या करूँ, कुछ ठीक-ठीक बताता तो है नहीं। बता दे तो जी की कसक ही न निकल जाय! हा!

देखि लाल बेहाल कहौं कासों अपनो दुख ?

गयो हाय ! कुंभिलाय कंज-सो अति मंजुल मुख ।

अलकावलि बंधि गई, जटा निनिवारत नाहीं,

पीरी तन-दुति परी, अंग अनुदिन मुरझाहीं ।

खान-पान तजि दियो दृगनि तें नींद गँवाई,

मलिन बसन तन धारि फिरत व्याकुल-सो माई !

बैठि अकेलो लिख्यौ करत कछु नख तें भूपर;

सिसकत, लेत उसास, कबौं कांपत अंग थर-थर ।

भयो हाय कृस काय, कठिन हठ, कह्यौ न मानत;

मुँदरी खसि गिरि परति आँगुरिन तें नहिं जानत !

धूर-धूसरित केस कबौं लोटत अवनी-तल;

कबहूँ ठिठकत चलत कबो दौरत ह्वै चंचल ।

कबों 'कृष्ण' कहि नचत, 'हरे नारायण' बोलै;

कबौं लेत दृग मूँदि चकित ह्वै कबहूँ खोलै ।

बिन कारन हँसि देत कबौं कछु राग अलापै,

यामुन की यह दसा कहौं कहि आवे कापै ।

क्या करूँ कमला ? यामुन की यह दशा देखकर जी बहुत घबराता है । खाती हूँ, पीती हूँ, उठती हूँ, बैठती हूँ, हँसती हूँ, बोलती हूँ, सभी कुछ करती हूँ, पर मन वहीं धरा रहता है । एक ओर यामुन को देखती हूँ, दूसरी ओर अभागिनी सौदामिनी को ! बहन, यह राज-पाट आज फीका

जान पड़ता है। महाराज भी इसी चिंता में पड़े रहते हैं। जिस प्रकार यामुन मेरी आँखों का तारा है, उसी तरह वह उनके भी हृदय का हार है। क्या मेरे लाल का उन्माद कोई दूर नहीं कर सकता ?

सावित्री—श्रीमतीजी, मैंने एक बड़ी अनहोनी बात सुनी है।

मंजु०—कौन-सी बात सावित्री ?

सावित्री—सुना है कि नीलाचल के समीप कुमारजी ने शाक्तों का एक यज्ञ विध्वस्त किया है। हो न हो, उन्हीं के शाप से उन्हें यह उन्माद हो गया है।

मंजु०—अरी, तब तो यामुन ने बड़ा अनर्थ बिसाह लिया। भला, वह देवी-देवताओं का यज्ञ-विध्वंस क्यों करेगा ? और फिर शाक्तों का यज्ञ-विध्वंस ! शाक्तों की सीमा दाबकर कौन सकुशल रहा ?

सावित्री—भगवती छिन्नमस्ता का वह यज्ञ था !

मंजु०—हे महामाये ! मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, नाक रगड़ती हूँ, यामुन पर कृपा करो मातेश्वरी !

कमला—इतना तो मैं भी जानती हूँ कि कुमारजी कापालिकों और वाममार्गियों के कट्टर विरोधी हैं। पशु-हिंसा तो वह देख ही नहीं सकते। मद्य-मांस का स्पर्श तो दूर है, दर्शन तक नहीं करते। अवश्य उन्होंने शाक्तों का अनर्थ

किया होगा। जो हुआ सो हुआ, अब इस अपराध का प्राय-श्चित्त करना चाहिए।

सावित्री—प्रायश्चित्त! राम का नाम लो। कुमारजी अपने सिद्धांतों के इतने पक्के हैं कि उनसे इसके प्रायश्चित्त की आशा करना आकाश-पुष्प का सूँघना है।

विमला—समझ में नहीं आता कि इससे भगवती क्यों रुष्ट हुई होंगी! कमला, मैंने बड़े-बड़े पंडितों और महात्माओं के मुख से सुना है कि देवी पर पशुओं का बलि चढ़ाना और मद्य-मांस का उन्हें भोग लगाना किसी आर्ष-ग्रंथ में लिखा नहीं मिलता। यह मार्ग तो इंद्रिय-लोलुप अधर्मियों का चलाया है। बहन, यह तो सोचो, यदि शाक्तों के शाप से ही युवराज को उन्माद हुआ है, तो उस शाप-जनित व्याधि के कोई लक्षण भी तो दिखाई देते। जो दिन-रात एकांत-सेवन किया करते हैं, क्षण-क्षण पर नारायण का स्मरण करते हैं, जो भगवान् के प्रेम में विह्वल रहते हैं, क्या उन्हें उन्माद हुआ है? उन्माद ही कहना है, तो उसे प्रेमो-न्माद कहो। (महारानी से) श्रीमतीजी, मेरी समझ में तो युवराज का चित्त ऊब गया है। वह संसार से उदासीन हो गए हैं। जिस परा प्रेमावस्था का वर्णन मैंने श्रीमद्भाग-वत में भक्तराज प्रह्लाद का सुना है, वही दशा कुमारजी

की हो रही है। स्वामिनीजी, आपका लाल सचमुच एक गुदड़ी का लाल है, एक धूल-भरा हीरा है।

मंजु०—विमला, महाराज ने भी कल मुझसे कुछ ऐसा ही कहा था। पर अभी यामुन ने देखा ही क्या है! वैराग्य तो विमला, अवस्था ढलने पर होता है।

विमला—जिनके संस्कार पूर्व से ही भगवदीय होते हैं, वे जन्म से ही परमहंस हुआ करते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद और शुकदेव क्या बुढ़ापे में विरक्त हुए थे? आपका अहोभाग्य जो आपका पुत्र नारायण का साक्षात्कार करने की धुन में मस्त हो रहा है! धन्य महारानी मदालसा को, जिन्होंने जनते ही अपने पुत्रों को परमार्थ का पंथ पकड़ा दिया था!

मंजु०—बहन, सब जानती हूँ, पर पुत्र-प्रेम बड़ा विचित्र बनाया गया है। जी का सब तरह समझाती हूँ, पर यामुन की, हृदय-दुलारे प्यारे यामुन की ज्यों ही सुध आ जाती है, छाती टूक-टूक हो जाती है, गला भर आता है, आँसुओं का तार बँध जाता है। विमला, मैं उस बिछुड़ी हुई हरिणी की नाईं विलख रही हूँ, जो अपने प्राणप्यारे बच्चे को सिंह की गुफा में पड़ा देख कलपा करती है।

(रोती है)

विमला—आप क्यों ऐसी अधीर हो रही है ?: धीरज धरें। मै अभी युवराज को आपकी सेवा में भेजती हूँ। पूछने पर अवश्य वह अपने मन की बात कह देंगे।

मंजु०—जा, बुला ला विमला ! तेरी बलैया लेती हूँ।

विमला—आप मन्त्रागार को पधारें, मै कुमारजी को वहीं भेजूंगी।

मंजु०—अच्छा बहन !

(सबका प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—कावेरी-तट पर एक पर्णशाला

समय—संध्या

(चिंतामग्न राम मिश्रजी बैठे हैं, पास ही मृग घूम रहे हे)

राम मिश्र—कुछ समझ मे नहीं आता। चार-पाँच दिन से मन उड़-सा रहा है। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते वही स्वप्न आँखों में नाच रहा है। अहा! कैसा शुभ्र मंदिर था ! उस शुक्लवसना पद्मासना देवी की भव्य मूर्ति आज भी इस मलिन मन को ऊँचा उठा रही है। 'राम मिश्र, सिंहासन रिक्त पड़ा है, उस पर नारायण को

समासीन कराओ, देखो, भगवान् संकर्षण को भी उस दिव्य सिंहासन की छाया में बुला लेना'—उसके यह शब्द आज भी इन निष्प्रभ नेत्रों में विद्युत् की भाँति दौड़ रहे हैं। सिंहासन और संकर्षण मे क्या अभिप्राय है? संकर्षण भगवान् भूलोक में किसलिये पधारे हैं? पद्मासना पद्मा देवी मुझ असमर्थ के हाथ से क्या कराना चाहती हैं? मैं कर ही क्या सकता हूँ? देश-काल धर्मोद्धार के लिये बिलकुल प्रतिकूल जान पड़ता है। भारत-भूमि पाप-परिताप से जली जा रही है। जहाँ-तहाँ मायावियों की दंभ-दुदुभि बज रही है। ऐसी अवस्था में क्या कर सकूँगा? संभव है, भगवद्विभूतियों का आविर्भाव हुआ हो। धर्मगोप्ता भगवान् कृष्ण पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

जब तक मुझे इस दैवी रहस्य का पूरा ज्ञान न हो जायगा, तब तक मेरी चित्तवृत्तियाँ विक्षिप्त हो रहेंगी। अस्तु, ध्यानयोग द्वारा इस रहस्य के जानने की चेष्टा करता हूँ।

(कुछ देर तक ध्यानावस्थित रहकर आँख खोलते हैं)

ठीक ! तब तो कल ही तैयारी कर देनी चाहिए। इस क्षण-भंगुर शरीर का क्या ठिकाना ? गुरुदेव पुंडरीकाक्ष का आदेश तो मैं भूल ही गया था। भगवान् रंगनाथ की लीला वास्तव में बड़ी विचित्र है। अब धर्मोदय हुआ ही समझो। तुरंत ही मैं भगवत् सिंहासनावतार यामुन को भगवान् श्रीरंग की सेवा में लाने का प्रयत्न करता हूँ। यामुन और संकर्षणावतार रामानुज निस्संदेह नारायणीय धर्म का उद्धार करेंगे। अस्तु; कल ब्राह्म-मुहूर्त में अवश्य मदुरा जाऊँगा।

(शार्ङ्गधर शिष्य को पुकारते हैं)

शार्ङ्गधर ! शार्ङ्गधर ! यहाँ तो आ बेटा ! क्या कहता है कि मंडप बना रहा हूँ। मंडप पीछे बनाना बेटा !

(शार्ङ्गधर का प्रवेश)

शार्ङ्गधर—(प्रणाम करके) क्या आज्ञा है गुरुदेव ?

राम मिश्र—क्या कर रहा था शार्ङ्ग ?

शार्ङ्ग०—मंडप बनाता था महाराज ! आज संध्या को श्रीगोदा-उत्सव होगा न ?

राम०—बेटा, अच्छा स्मरण कराया। मुझे तो बुढ़ापे में कोई याद ही नहीं रहती। शार्ङ्ग ! हरिणों को पानी पिलाया है या नहीं ?

शार्ङ्ग०—पिला दिया महाराज !

राम०—शार्ङ्ग ! कल मैं मदुरा जाऊँगा। तू साथ चलना। देख, आश्रम का भार चक्रधर को सौंप देना, वह सब सँभाल लेगा।

शार्ङ्ग०—मदुरा तो बहुत दूर है गुरुदेव ! आज्ञा हो तो मैं ही चला जाऊँ। आप क्यों कष्ट उठाते हैं ?

राम०—नहीं बेटा, मुझे ही जाना होगा।

शार्ङ्ग०—ऐसा क्या काम है वहाँ महाराज ?

राम०—पीछे आप ही जान जाओगे। तैयार रहना, भला।

शार्ङ्ग०—अच्छा महाराज।

राम०—बस, अब जाओ। अपना काम करो।

शार्ङ्ग०—जो आज्ञा।

(शार्ङ्गधर का प्रस्थान)

राम०—कौन जानता था कि नाथ मुनि का पौत्र ऐसा प्रतापी होगा। यमुना-तट पर जन्म लिया, भाष्याचार्य के आश्रम में विद्याध्ययन किया और देखते-ही-देखते मदुरा का अधिपति बन बैठा ! परंतु महायोगी नाथ मुनि के वंशधर के आगे राज्यैश्वर्य धूल के समान है। उनकी सच्ची निधि तो भगवान् श्रीरंग की चरण-अर्चा ही है। (नेत्र बंद कर) नारायण की लीला अनादि-अनंत है !

(ध्यानावस्थित हो जाते हैं)

गीत

तिहारी महिमा अपरपार !

'नेति-नेति' नित निगम निरूपत, को पावै प्रभु पार।

पाहन पै पंकज बिगसावौ, स्रवौ अनल रसधार,

मरुथल पै रचि सुधा-सरोवर, सरसावो सुख-सार।

अधरम छेदि धरम-धुज रोपौ, हरौ सकल भू भार,

चितै तिहारी कृपा-कोर जन, गावत मंगलचार।

धन्य है प्रभो! तुम्हारा भेद कौन जान सकता है?

(मंदिर की ओर राम मिश्रजी का प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—मध्वागार-प्रासाद

समय—मध्याह्न

(युवराज यामुन महारानी मंजुभाषिणी से बात कर रहे हैं)

मंजु०—यामुन, तुम्हें कितना समझाया, पर तुमने कभी मेरी बातों पर ध्यान न दिया। तुम पढ़े-लिखे हो। मुझ मूर्खा की बात क्यों मानने लगे!

यामुन—यह क्या कहती हो मा! लो, मैं उठा जाता हूँ।

मंजु०—(स्नेहपूर्वक) बेटा, तुम्हें क्या हुआ है? कभी शाक्तों का यज्ञ विध्वंस करते हो, तो कभी कापालिकों से लड़ बैठते हो। तुम्हारी फिर बनती किससे है? यह सब

अनिष्ट करते-करते तो तुम इस दशा को पहुँचे हो, अब और क्या इच्छा है ? भैया, कल जगन्नाथ शास्त्री ने तुम्हें कितना मना किया, पर तुम अपने ही हठ पर गए, रोकते-रोकते निरुप्याण का चरण स्पर्श कर लिया ! लाख बड़ा भक्त है, पर जाति का तो अस्पृश्य ही है। कहीं अस्पृश्य का भी स्पर्श करना होता है ? क्यों सनातनी रीति-पद्धति पर पानी फेरते हो ? बेटा, तुम तो समझदार हो, पढ़े-लिखे हो, फिर क्यों ऐसी मन-मानी घर-जानी करने पर उतारू हो जाते हो ?

यामुन—मा, आज तक मैंने अपनी समझ में कोई धर्म-विरुद्ध काम नहीं किया। मद्य-मांस-सेवी हिंसा-प्रिय नर-पिशाच भी क्या धर्मात्मा कहे जा सकते हैं ? मायावाद द्वारा क्या नारायणीय निश्चला प्रेमपरा भक्ति प्राप्त हो सकती है ? मा ! क्या अंत्यज, परम भागवत होते हुए भी, कोरे कर्मठ ब्राह्मणों से नीच और हीनतर हैं ? क्या महात्मा निरु-प्याण आलवार के चरण छूकर मैं एकदम पतित हो गया ? इसे ही यदि 'पतन' कहते हैं, तो मैं उस शास्त्रोक्त उत्थान को दूर से ही नमस्कार करता हूँ। मा, जिन संतों का चरण-स्पर्श कर तीर्थ भी अपने को कृतार्थ मानते हैं, यदि मैंने उन चरणों पर अपना कामना-कलुषित राजमुकुट झुका दिया, तो अनर्थ ही क्या कर डाला ? क्या नारायण का विशाल

अंक केवल ब्राह्मणों ही के लिये सुरक्षित है ? मा, वहाँ ऊँच-नीच का कोई विचार नहीं। जो अपने अहंकार को भगवान् के चरणों पर अर्पित कर देता है, उसी की उस दरबार में पूछ है।

मंजु०—तो क्या निरुप्याण आल्वार तेरी समझ में ब्राह्मणों से भी भगवान् को अधिक प्रिय है ?

यामुन—अवश्य, निस्संदेह। नारायण का नाम पतित-पावन, अधमोद्धारण और अशरण-शरण है। मा, भगवान् भाव के भूखे हैं, कुलीनता, प्रतिष्ठा, आढ्यता और विद्या के नहीं। उसके दिव्य द्वार को सभी खटखटा सकते हैं, उस निधि पर सभी अधिकार कर सकते हैं। मा, निरुप्याण आल्वार साधारण पुरुष नहीं हैं। उनकी भगवद्भक्ति, ध्यान-निष्ठा और शांतिमुद्रा किसी महर्षि से कम नहीं है। अहोभाग्य, जो उसका चरण-स्पर्श मिल जाता है।

मंजु०—यामुन, तुम ढीठ और हठी हो। अब यह बाल-स्वभाव छोड़ दो भैया।

यामुन—मा, आपकी वात्सल्य-दृष्टि में तो मैं सदा बालक ही रहूँगा। पर इसे आप ढिठाई या हठ न समझें। इस समय मैं धर्मसंगत बात कर रहा हूँ। मा, सर्वांतर्यामी नारायण की भक्ति के यावत् जीव अधिकारी हैं। सचमुच ही भगवान्

पद-दलितों, अस्पृश्यों और तिरस्कृतों पर अधिक कृपा करते हैं। अहा !

अधम अजामिल तुरत स्वर्ग पहुँचायो जाने ;
गुह निषाद उर लाय प्रेम प्रगटायो जाने ।
सबरी के फल खाय भाव दरसायो जाने ;
स्वपच म्लेच्छ उद्धारि नेह सरसायो जाने ।
नित ही जाके दरबार में दलित पतित आदर लहैं ;
वा दीनबंधु की पैरि में ऊँच-नीच काकों कहैं ?

इस पचड़े में क्या धरा है मा ? कुछ खाने को दो मा, बड़ी भूख लगी है ।

मंजु०—(स्नेह-पूर्वक) यामुन, तू न-जाने कैसा होता जाता है ? भैया, खाना-पीना छोड़ देने से क्या नारायण मिल जायँगे ?

यामुन—न दो, मैं यह चला ?

मंजु०—क्या खाओगे लला ?

यामुन—फल खाऊँगा । मा, मुझे फल बड़े मीठे लगते हैं ।

मंजु०—साधू-बैरागी क्यों नहीं हो जाते ? कहीं गृहस्थ भी फल खाकर रहते हैं बेटा !

यामुन—मा, फलाहार से सतोगुण बढ़ता है, और स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है ।

मंजु०—कौन तेरे मुँह लगे। चल, जो तेरी इच्छा हो, कर।

यामुन—अच्छा मा, चलो।

(दोनों का प्रस्थान)

छठा दृश्य

स्थान—अशोक-वाटिका

समय—संध्या

(युवराज यामुन चिंतित-से अकेले बैठे हैं और आप-ही-आप कुछ कह रहे हैं)

यामुन—तो क्या यों ही कलपाते रहोगे जगदीश्वर? निश्चय समझो, इस दास को तुम्हारे बिना संसार में कुछ भी नहीं सुहाता। नित्य उषा का उदय होता है, चिड़ियाँ चुहचुहाती हैं, कमल विकसित हो जाते हैं, किंतु मुझे प्राची की भालस्थली सूनी ही दिखाई देती है। मेरी धुँधली आँखों के आगे प्रकृति-न जाने क्यों, मूक-सी खड़ी रहती है। नाथ! तुम सच ही पूरे निठुर हो। सच कहना, तुम्हें मेरा उपहास कराने में क्या मिलता है? देखो, मैं कब का टक लगाए तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ! कितनी अभीप्सा हो रही है! कितने दिनों से मेरी अभागिनी आँखें तुम्हारे

चरणों का स्वागत करने के लिये पलक-पाँवड़े बिछाए खड़ी हैं। पर प्यारे, तुम्हारा पत्थर-सा कलेजा तनिक भी न पसीजा! क्या वश?

हारयौ समुझाय इन्हें धीर हू धराय कहि,
कबहूँ तौ दीनबंधु दीनानाथ आवैंगे,
फेरि कर-कंज सीस विहँसि चितैहैं जबै,
हेरत ही जीवन की जरनि सिरावैंगे।
कहा करौं, मानत ए नाहिं नाथ! मेरो कह्यौ,
दरस तिहारे बिन नाहिं सचु पावैंगे,
लीजि अब बाँधि पद-पंकज के पींजरा में,
न तरु पियारे, प्रान-पंछी उड़ि जावैंगे।

निस्संदेह प्राण-पक्षी उड़ जायँगे नाथ!

विरह-उदेग-आगि लागी तन-कानन में,
जरिहै जो अग वृक्ष ठौर कित पावैंगे!
प्राननाथ प्यारे, यातें मानिए हमारो मतो,
विकल अधीर फेरि हाथ नाहिं आवैंगे।
नेह को बिछाय जाल, रूप को रसाल चारु,
चारो मृदु देहु, जातें लगनि लगावैंगे,
लीजे इमि बाँधि पद-पंकज के पींजरा में
न तरु पियारे, प्रान-पछी उड़ि जावैंगे।

प्राणेश्वर! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। कृपामय!

तनिक अपनी इस पाप-संतप्त लीला-भूमि की दशा तो देख जाओ—

> वढ्या यथेच्छाचार धर्म सब लोप भयो है ;
> नाहिं सत्य कौ लेस दंभ-दल आय छयो है।
> स्वय ब्रह्म वनि करैं करम-कुकरम कलि-योगी ;
> मद्य-मास भखि भए भामिनी भावुक भोगी।
> कहुँ भाव-भक्ति कौ नाम नहिं, भए सबै अप स्वारथी ;
> कहँ धरे ठीकुरी कान पै, सोवत पारथ-सारथी।

दीनबंधो, अब एक-एक पल एक-एक युग के समान बीत रहा है। नाथ, या तो इस दास को अंगीकृत कर संसार में भागवत-धर्म की ध्वजा उड़ा दो, या यहीं से इस पाप-पूर्ण जीवन की इतिश्री कर दो।

(एकाएक मल्लिनाथ का प्रवेश)

मल्लि०—(स्वत) मैं सामने पहुँचा कि इस कथा की इतिश्री हुई। अच्छा, इस पेड़ की ओट में खड़ा हो यामुन का भागवत-पुराण सुनूँगा।

(एक वृक्ष की ओट में खड़ा हो जाता है)

यामुन—मनुष्य कैसा पराधीन है! हम लोगों से तो पक्षी ही अच्छे हैं, जो लहलही डालों पर उड़ते-बैठते स्वतंत्रता का अंतर्नाद सुना करते हैं, नीरव आकाश में, जन-संकुल वातावरण से दूर रहकर, अपने सुख-दुःख के आप

ही विधायक और निर्णायक बना करते हैं। क्या कभी मैं भी प्रकृति-पुजारी मृगों और वन-विहारी पक्षियों के साथ निर्जन कानन में निश्चिंत घूम सकूँगा ?

मल्लि०—(जोर से) हूँ।

यामुन—(चारों ओर देखकर) कौन 'हूँ' करने आ गया ! स्वर तो मल्लिनाथ दादा का-सा है।

मल्लि०—हूँ।

यामुन—दादा ! कहाँ छिपे खड़े हो ?

(मल्लिनाथ उछलता-कूदता आ जाता है)

यामुन—किधर से आगमन हो रहा है दादा ?

मल्लि०—वहीं से।

यामुन—कहाँ से ?

मल्लि०—जहाँ तुम निश्चिंत घूमना चाहते हो। अर्थात् वन से।

यामुन—प्रासाद छोड़कर कहीं जाते भी हो या यों ही स्वर में स्वर मिला दिया।

मल्लि०—स्वर में स्वर मिलावे वीणा और मृदंग, सितार और बाँसुरी।

यामुन—(हँसकर) अच्छा, जाने दो। यह बताओ, इस समय कहाँ से आ रहे हो ?

मल्लि०—वन से, वन से, वन से।

यामुन—विमला तो कहती थी कि तुम प्रासाद में थे। वन में कब गए थे?

मल्लि०—अरे भाई! मैं ठहरा अभेदवादी। मैं तुम्हारी तरह प्रासाद और वन में कोई भेद-दृष्टि तो रखता नहीं।

यामुन—तो क्या तुम्हारी दृष्टि में प्रासाद और वन एक ही वस्तु है?

मल्लि०—अवश्य।

यामुन—कैसे?

मल्लि०—देखो, वहाँ अर्थात् वन में बड़े-बड़े ऊँचे शिखर हैं और यहाँ अर्थात् प्रासाद में दस-दस खंड की नभ-चुंबी अट्टालिकाएँ! वहाँ दुष्ट पशुओं के मारे नाक में दम रहता है, तो यहाँ तुम्हारे असभ्य राजकर्मचारी कोंचा करते हैं! वहाँ पक्षियों की चींचीं-पोंपों से आँख नहीं लगती, यहाँ रनिवास की कर्कशा स्त्रियाँ बकझक लगाए रहती हैं! हाँ, एक बात में प्रासाद वन से अच्छा है।

यामुन—किस बात में दादा?

मल्लि०—इसमें कि वहाँ कंद-मूल और साग-भाजी से पेट-पूजा करनी पड़ती है और यहाँ श्रीमान् उदरदेव का षोडशोपचार पूजन गोल-गोल लड्डुओं से होता है।

यामुन—ठीक है।

मल्लि०—कभी-कभी वह पदार्थ भी मिल जाता है।

यामुन—कौन-सा पदार्थ ?

मल्लि०—वही। अरे, वही जो दूध, चावल, शर्करा आदि से तैयार किया जाता है। अरे, वही जिसे मैं प्राय: जीभ से चाटा करता हूँ।

यामुन—क्या खीर ?

मल्लि०—दूसरा नाम लो।

यामुन—पायस ?

मल्लि०—तीसरा नाम लो।

यामुन—तस्मै ?

मल्लि०—हाँ, हाँ वही—तस्मै श्रीगुरवे नमः। मेरी समझ में तो यामुन, वन से प्रासाद ही अच्छा है। पर भाई, तुम न-जाने कैसे मनुष्य हो ! आज कहीं मैं मदुरा का युवराज होता, तो ऐसी राजसी भोगता कि फिर हाँ !

यामुन—अच्छा, क्या-क्या करते ?

मल्लि०—सबसे पहले तो एक पहर दिन चढ़े सोकर उठता।

यामुन—फिर ?

मल्लि०—शौच इत्यादि से निवृत्त होता।

यामुन—फिर ?

मल्लि०—श्रीमान् विश्वविजयी शरीर-सम्राट् उदर महोदय की षोडशोपचार अर्चा ।

यामुन—और संध्या-पूजा ?

मल्लि०—संध्या-पूजा करती मेरी बला !

यामुन—क्यों ?

मल्लि०—यों कि संध्या-पूजा तो राजा-महाराजा होने के लिये की जाती है । जब राज्य ही हाथ में आ गया, तब संध्या-पूजा, दान-धर्म आदि से क्या लाभ ?

यामुन—अच्छा फिर ?

मल्लि०—मुलायम गद्दे पर तकिया लगाकर लुढ़क रहता । स्मरण रहे, यह सब काम मैं स्वयं तो करता नहीं ।

यामुन—क्या उठना-बैठना भी स्वयं न करते ?

मल्लि०—न । स्वयं यह सब काम करता, तो राजा-प्रजा में भेद ही क्या रह जाता ? चार-पाँच नौकरों के सहारे उठता, बैठता, चलता, फिरता, खाता, पीता, लेटता, सोता, इत्यादि-इत्यादि ।

यामुन—अच्छा फिर ?

मल्लि०—तेल डालकर बाल सँवारता, माँग निकालता,

दाँतों में मिस्सी मलता, आँखों में सुरमा लगाता और लेटे-लेटे तोंद फुलाता।

यामुन—खूब ! और रात को क्या-क्या होता दादा ?

मल्लि०—राग-रंग, नृत्य-गान, चहल-पहल इत्यादि-इत्यादि।

यामुन—फिर ?

मल्लि०—भगवान् उदरदेव की शयन-आरती।

यामुन—फिर ?

मल्लि०—शयनम्। इत्यलम्।

यामुन—और राज्य-प्रबंध किस समय करते ?

मल्लि०—राजा का राज्य-प्रबंध से क्या संबंध ? प्रबंध तो कर्मचारी किया करते हैं। वाह ! क्या हम राज्य के बाप की नौकरी करते फिरते ? यामुन, तुम रहे वही-के-वही। तनिक भी राजसी न आई। जाओ, मृगों के साथ जंगल में घूमो। मैं राज्य सँभाल लूँगा।

यामुन—अच्छी बात है। आज ही श्रीमान् से कहकर तुम्हें अपने स्थान पर युवराज करा दूँगा।

मल्लि०—धन्यवाद !

यामुन—कभी कोई राजा चढ़ आया, तब ?

मल्लि०—परास्त कर दूँगा।

यामुन—कैसे ?

मल्लि०—इस प्रकार—

गोल-गोल लड्डुन के गोले भरि-भरि थाल चलाऊँ ;

रुचि मचाय मधुर रबड़ी की, अमृत बरी बरसाऊँ ।

चक्र चलाय जलेबी के तहँ रिपु कों नाच नचाऊँ ;

हलुआ हुमुकि-हुमुकि कै मारूँ, ऐसो युद्ध मचाऊँ ।

यामुन—इतने पर भी शत्रु के पैर न उखड़े तो ?

मल्लि०—एक दूसरा उपाय है ।

यामुन—सुनाओ ।

मल्लि०—सुनो ।

मूँछ मुड़ाय सँवारि केस हँसि-हँसि भौंहैं मटकाऊँ ;

अंजन आँजि रँगीले नैननि मुख पै लट लटकाऊँ ।

पहिरि चूनरी अति चटकीली रुनकि-झुनकि बलि जाऊँ ;

दै गलबहियाँ पल में अपनो प्यारो शत्रु रिझाऊँ ।

यामुन—बलिहारी ! बलिहारी !! दादा, तुम अवश्य शत्रु के पैर उखाड़ दोगे । लो, राज्य सँभालो । विलंब करने से काम बिगड़ जायगा ।

मल्लि०—पर भाई, मन नहीं बोलता ।

यामुन—क्यों ?

मल्लि०—राज्याभिषेक के दिन निर्जल निराहार व्रत करना पड़ेगा ।

यामुन—तो क्या हुआ ?

मल्लि०—(कानों पर हाथ रखकर) अरे बाप रे ! छोड़ा ऐसा यौवराज्य ! यामुन, मैं मल्लिनाथ ही अच्छा हूँ। चलो दो-चार लड्डू और थोड़ी-सी तस्मै दिलाओ।

यामुन—तो क्या अब युवराज न बनोगे ?

मल्लि०—राम का नाम लो। जिसके लिये निर्जल-निराहार व्रत करना पड़े, उस यौवराज्य से मोदकास्वादन का सुख सहस्रगुण अच्छा है।

यामुन—अच्छा, चलो तुम्हें लड्डू दिला दें।

मल्लि०—जय हो।

(दोनों का प्रस्थान)

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—मदुरा नगरी के बाहर एक उद्यान

समय—प्रातःकाल

(एक वृद्ध महात्मा त्र्यंबक शास्त्री से बात कर रहे हैं)

त्र्यंबक—आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो मैं आग्रह नहीं करूँगा। यह उद्यान नगर से कुछ दूर है, इसी से प्रार्थना की थी। यहाँ आपकी सेवा जैसी चाहिए, वैसी न हो सकेगी।

महात्मा—शास्त्रीजी, यहाँ, एकांत मे, भगवद्‌भजन तो हो सकेगा। और सुपास भी तो सब भाँति का है। दो-तीन रात से अधिक ठहरना भी नहीं है। इससे यहीं आसन जमाना ठीक है। हाँ, अब आप यह बताओ कि यहाँ का राजा कैसा है?

त्र्यंबक—राजा परम आस्तिक, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक और प्रजा-वत्सल हैं। उनकी रानी तो और भी साध्वी हैं, साक्षात् भगवती हैं। राजा विश्वास हैं, तो रानी श्रद्धा हैं। कुमार भी एक दिव्यात्मा है। इंद्र, शची और जयंत के

समान यह तीनों, अमरावती-सदृश मदुरा-नगरी में, धर्मराज्य कर रहे हैं।

महात्मा—राजकुमार कितने हैं शास्त्रीजी ?

त्र्यंबक—एक प्रकार से तो श्रीमान् निस्संतान हैं, किंतु यह मैं कैसे कहूँ ?

महात्मा—(आश्चर्य से) हैं ! फिर कुमार कौन हैं ?

त्र्यंबक—श्रीमान् के दत्तक पुत्र। यामुन उनका नाम है और आलंबदार उपाधि।

महात्मा—क्या आप संक्षेप में उनका वृत्तांत सुनावेंगे ?

त्र्यंबक—महात्मन्, पहले वह महर्षि भाष्याचार्य के आश्रम में विद्याध्ययन करते थे। उन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में ही समस्त शास्त्रों का अनुशीलन कर डाला था। अपनी प्रखर प्रतिभा के प्रभाव से वह बड़े-बड़े दिग्गज पंडितों को परास्त कर देते थे। उन दिनों यहाँ एक बड़ा ही मदोद्धत पंडित रहता था। राजा की उस पर विशेष कृपा थी। लोगों ने उसे 'विद्वज्जन कोलाहल' की उपाधि दी थी। राज्य-कर की भाँति उसने पंडितों पर 'पंडित-कर' बाँध दिया था। भाष्याचार्य को भी यह कर देना पड़ता था। जब यामुन ने यह बात सुनी, तब उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कोलाहल से कहला भेजा कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ

कर लो, पीछे कर की बात करना। बालक यामुन की इस बात पर कोलाहल जल-भुन गया। एक बारह वर्ष के बालक के साथ इतना भारी पंडित क्यों शास्त्रार्थ करने लगा? किंतु श्रीमती महारानी के आग्रह से, राजसभा के बीच में, उसे शास्त्रार्थ करना ही पड़ा। भगवन्, अपूर्व मेधावी और तेजस्वी यामुन ने उस मदोद्धत को तुरंत परास्त कर दिया। प्रतिज्ञानुसार महाराज ने उसी क्षण यामुन को अपना युवराज बना लिया। 'आलंबदार' की उपाधि उन्हें मिली थी। श्रीमती महारानी उस दिन से उन्हें अपना पुत्र मानती हैं।

महात्मा—शास्त्रीजी, युवराज का स्वभाव कैसा है?

त्र्यंबक—उनकी आत्मा इस लोक की नहीं है। भगवन्, वह पूरे राजर्षि हैं। उनकी सच्चरित्रता, सुशीलता, दीन-वत्सलता और भगवद्भक्ति देखते ही बनती है।

महात्मा—यामुन का विवाह तो हो गया होगा?

त्र्यंबक—जी हाँ, उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती सौदामिनीदेवी भी उनकी पूरी अनुगामिनी हैं। यह मणि-कांचन-संयोग स्वर्गीय नहीं तो क्या है?

महात्मा—धन्य हैं आप लोग, जो ऐसे राजा की छत्रच्छाया में निर्विघ्न निवास करते हैं!

त्र्यंबक—महात्मन्! कुमार यामुन का चित्त कुछ दिनों से

विक्षिप्त-सा रहता है। लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। सदा एकांत-सेवन ही किया करते हैं। राज्यैश्वर्य से उनका चित्त बिलकुल ऊब गया है।

महात्मा—तो क्या आजकल वह किसी से भी नहीं मिलते-जुलते ?

त्र्यंबक—ऐसा तो नहीं है, पर हाँ, सांसारिक प्रपंचों से बहुत बचा करते हैं। महात्मन्, क्या आप उन्हें कुछ सदुपदेश सुनावेंगे ?

महात्मा—ऐसे महापुरुष का दर्शन कौन नहीं करेगा ? परंतु शास्त्रीजी, वहाँ तक पहुँचना तो कठिन है।

त्र्यंबक—आपके लिये क्या कठिन है ! युवराज सुनते ही आपकी सेवा में दौड़े आएँगे। मैं आज ही आपके आगमन की सूचना दे दूँगा।

महात्मा—अच्छी बात है। शास्त्रीजी, कष्ट न हो, तो संध्या को फिर पधारिए।

त्र्यंबक—अवश्य आऊँगा महाराज ! संत-सेवा बड़े भाग्य से मिलती है। हम संसारी जीवों को ऐसे शुभ अवसर बार-बार तो मिलते नहीं।

(साष्टांग प्रणामानंतर त्र्यंबक शास्त्री का प्रस्थान)

महात्मा—(उठकर) शार्ङ्गधर ! यहाँ तो आ बेटा !

(शार्ङ्गधर का प्रवेश)

शार्ङ्गधर— क्या आज्ञा है गुरुदेव ?

महात्मा—भजन-पूजन करूँगा बेटा ! आसन-वासन ठीक कर दे ।

शार्ङ्ग०—सब ठीक है महाराज !

महात्मा—अच्छा बेटा, चल ।

(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—राजप्रासाद

समय—रात का पहला पहर

(युवराज यामुन और उनके मित्र रंगनाथ बैठे हैं)

यामुन—रंगनाथ ! नीलाचल का प्रत्येक पाषाण-खंड, प्रत्येक वृक्ष और प्रत्येक जीव-जंतु दिव्य था । वहाँ की प्रत्येक वस्तु मुझे दिव्य उपदेश देती थी । मित्र, तुम होते तो वहाँ और भी अधिक आनंद आता ।

रंग०—यामुनजी, एक दिन तुमने कहा था कि तुम्हें नीलाचल-संबंधी एक रहस्य बताऊँगा । स्मरण है न ? आज बताओ, वह रहस्य क्या था ?

यामुन—(मुसकिराकर) रंग ! तुम्हारी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र है । कहाँ की बात उखाड़ी ! याद नहीं, क्या कहा था ।

रंग०—छिपाते क्यों हो ? उसके सुनने का क्या मैं अधिकारी नहीं हूँ ?

यामुन—जाने दो। सुनकर क्या करोगे ?

रंग०—कुछ भी करूँगा। छिपाते क्यों हो ?

यामुन—(नेत्र बंद कर) अच्छा स्मरण कराया रंगनाथ ! एक दिन नीलाचल के समीप एक ऐसी दिव्य मूर्ति का दर्शन हुआ था, जिसका वर्णन करना मेरे लिये असंभव-सा है। धन्य !

बरसति कृपा-पयोद-रस बोलि अलौकिक बैन ;
जयति माधुरी-मूर्ति कोउ बसौ सदा मो नैन।

(ध्यानावस्थित हो जाते हैं)

रंग०—(अधीरता से) मित्र ! वह अलौकिक मूर्ति किस नाम से प्रत्यक्ष हुई थी ?

यामुन—(नेत्र खोलकर) मेरे भाग्य का आदि-अंत नहीं। उस कृपा-मूर्ति का नाम 'भक्ति' था। उसकी अभय-प्रदान-मुद्रा आज भी आँखों में उसी प्रकार नाच रही है। उस दयामयी के आशीर्वाद से, देखूँ, कब भगवान् के चरणों तक पहुँचता हूँ। रंग ! मुझ पर भगवती-भक्ति की अनंत कृपा जान पड़ती है। जब उस प्रेमपरा शक्ति ने मेरे माथे पर अपना कृपालु हाथ फेरकर मुझे प्यार किया, उस समय

मेरी चित्तवृत्ति कैसी थी, कह नहीं सकता। ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई मुझे वासंती समीर के हिंडोले पर झुला रहा हो, अथवा कोई अधखिली कमल-कली के अछूते पराग से मेरी आँखों में धीरे-धीरे नींद भर रहा हो। रंग, वह सुख वर्णनातीत है।

(ध्यानावस्थित हो जाते हैं)

रंग०—(यामुन का हाथ पकड़कर) कुछ और सुनाओ भैया! इतने से भला कैसे तृप्ति होगी?

यामुन—मित्र, क्या सुनाऊँ? क्या कभी वह स्वर्गीय दिन आवेगा, जब मैं नारायणीय लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करूँगा? सचमुच ही वह दिन अपूर्व होगा रंग! जब मेरे प्रेमपिपासाकुल नेत्र भगवान् की दिव्य माधुरी पर मुग्ध हो अपने को कृतार्थ मानेंगे। कैसा होगा वह क्षण, जब वैकुंठ-नाथ इस संतप्त मस्तक पर अपना पांचजन्य शंख फेरेंगे! क्या उस समय मैं उन अशरण-शरण चरणों पर इस तरह न लोटने लगूँगा, जैसे कोई बिछुड़ा हुआ मृग-शावक अधीर हो अपनी मा के अंक पर कल्लोल करने लगता है? प्यारे!

लीजै अब बाँधि पद-पंकज के पींजरा में,
नतरु पियारे प्रान-पंछी उड़ि जावेंगे!

रंगनाथ, अब तो यहाँ पल-मात्र भी रहने को जी नहीं

चाहता। यह राजप्रासाद प्रेत-निवास-सा प्रतीत होता है। यदि अनंत स्नेहमयी माताजी न होतीं, तो अब तक यहाँ से मैं कभी का चल दिया होता।

रंग०—मित्र, यह बात मन में भी न लाना। श्रीमतीजी तुम्हारे असह्य वियोग में उसी क्षण प्राण त्याग देंगी।

नेपथ्य में—

"जागु पथिक, अब रैनि विहानी!
मारग अगम, संग नहिं कोई, दूर प्रेम-रजधानी।"

यामुन—(चौंककर) अहा! कैसा मधुर गीत है!

नेपथ्य में—

"विलमु न छिन-छिन छाँह बटोही, न करु वृथा हित-हानी;
भयो उदय पूरब-सुख तेरो, पैहै निधि मनमानी।
जागु पथिक, अब रैनि विहानी।"

यामुन—(उत्कंठा से) मित्र, देखो तो, किस महात्मा की वीणा से यह स्वर्गीय झनकार उठी है?

रंग०—जाके देखता हूँ।

(रंगनाथ का प्रस्थान)

यामुन—(प्रसन्न होकर) यह गीत तो मेरे ही ऊपर घट रहा है। "पैहै निधि मनमानी" यह कौन आश्वासन दे रहा है? कहीं यह मेरे अंतस्तल की ही प्रतिध्वनि न हो! मैंने स्वप्न तो नहीं देखा? नहीं; मुझे रंगनाथ का पूरा स्मरण है। मैंने

रंग को कहाँ भेजा है ? ऐं ! यह क्या है ? प्रभो, तुम्हारी लीला बड़ी विचित्र है । इस तुच्छ दास के छकाने में तुम्हें क्या मिलेगा मोहन ?

लीजै अब बाँधि पद-पकज के पींजरा में,
नतरु पियारे, प्रान-पंछी उड़ि जावेंगे !

(रगनाथ का प्रवेश)

यामुन— (उत्सुकता से) कहो, कौन है भाई ?

रंग०—प्रासाद के सामने, वट के नीचे, एक देवोपम वृद्ध वैष्णव वीणा के स्वर में अलापते थे ।

यामुन—चले तो नहीं गए ?

रंग०—नहीं ।

यामुन—तुमने उनका नाम-धाम नहीं पूछा ?

रंग०—पूछा, पर उन्होंने कुछ बतलाया नहीं । तुम्हें यह पत्र दिया है ।

यामुन—(विस्मित होकर) मुझे ! देखूँ, क्या लिखा है !

(पत्र लेकर पढते हैं)

रंग०—क्या लिखा है भाई ?

यामुन—लिखा है कि—

"क्यों करील-वन में फिरत चंचल मधुप अधीर !
अजहूँ चलु वा कुंज मँह लेहि अमिय-मधु-भीर ।"

कुछ और भी कहा है ?

रंग०—नहीं।

यामुन—रंगनाथ, जाओ, इन्हें तुरंत आदर-पूर्वक यहाँ लाओ। देखो, कोई कष्ट न हो।

रंग०—अच्छा भाई।

(रंगनाथ का प्रस्थान)

यामुन—भगवन्! आज कौन-सा अभिनय दिखाओगे? कहीं आप ही तो वीणाधारी महात्मा के भेष में नहीं पधारे हो? इस दोहे का क्या गूढ़ार्थ है? सचमुच ही मुझे क्या अपनी कुंज में बुला रहे हो? (अधीरता से)—

लखिहौं कब वा कुंज कों, जहँ नित नव अनुराग;
लैहौं मधुकर ह्वै अमित हरि-पद-पदुम-पराग।
हरि-पद-पदुम-पराग पान कै बलि ह्वै जैहौं;
भाव-सरोवर पैठि रसिक-जीवन-फल लैहौं।
बिहरि दिव्य वर बेलि केलि करि उर छवि रखिहौं,
नवल ललित सुखपुंज कुंज कों कब मैं लखिहौं।

वह क्षण कैसा अपूर्व और अलौकिक होगा! (कुछ ठहर-कर) दाहिना बाहु क्यों फड़कता है? क्या शुभ होने-वाला है?

(वृद्ध ऋषि का प्रवेश, युवराज यामुन ऋषि को साष्टांग प्रणाम कर सादर आसन पर बिठाते हैं)

यामुन—बड़ा अनुग्रह किया ऋषिराज! वास्तव में,

आज यह भवन पवित्र हो गया। महात्मन्, इस नगरी में आप कब पधारे ?

महर्षि—यहाँ आए मुझे दो दिन हुए हैं। मेरी पर्णशाला कावेरी-तट पर है। तुम्हारी नगरी में धर्म का अक्षत राज्य देखकर मेरा हृदय फूला नहीं समाता। आजकल तो ऐसा प्रतिकूल समय आ गया है कि धर्म का कहीं नाम भी नहीं सुनाई देता।

यामुन—यथार्थ है। धर्मप्राण श्रीमान् मदुरा-नरेश की छत्रच्छाया में वर्णाश्रम-धर्म जितना कुछ रक्षित है, उतना कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिले। पर इस समस्त सुख-शांति का श्रेय भगवन् ! आप-जैसे महापुरुषों के कृपा-कटाक्ष पर निर्भर है। आप ही के ब्रह्म-तेज से क्षात्र-धर्म सुरक्षित बना है।

महर्षि—धन्य है उन राजसत्ताधिकारियों को, जो अपनी प्रजा को पुत्र की भाँति पालते हुए सांसारिक सुखों से उदासीन हो नारायण के चरणों में अनुरक्त रहते हैं ! वत्स ! तुम्हारे विषय में जितना सुना था, उससे कहीं अधिक, तुम्हारा भक्ति-भाव देखकर, प्रसन्नता हुई।

यामुन—ऋषिराज ! मिथ्या प्रशंसा के भार से यह दास दबा जा रहा है। हम-जैसे नारकीय जीव नारायण के

चरणानुगामी भला कैसे हो सकते हैं ? पर एक बात है। आप-जैसे महापुरुषों के शब्द सार्थक होते हैं, उन शब्दों का अवश्य ही अर्थ अनुगामी होता है।

महर्षि—वत्स ! दैन्य-प्रलापियों पर नारायण सदा से ही कृपा करते आए हैं। तुम पर तो उनकी ऐसी कृपा है कि अब क्या कहूँ !

यामुन—(विनीत भाव से) महात्मन्, रुक कैसे गए ! संभव है, अभी मैं उन अव्यक्त शब्दों के सुनने का अधिकारी न हूँ।

महर्षि—नहीं, यामुन ! ऐसा मत कहो। मैं सब बता दूँगा। अधीर क्यों होते हो ? सब बातों का कुछ-न-कुछ नियत समय होता है। कल संध्या को किसी एकांत स्थान में तुमसे कुछ कहूँगा। वत्स, अब मैं जाऊँगा, क्योंकि संध्या-पूजा का समय हो गया है। कल संध्या समय मिलूँगा। यामुन, मेरे पत्र पर बार-बार मनन करना।

यामुन—जो आज्ञा भगवन् !

महर्षि—अच्छा, तो अब मैं जाऊँगा।

यामुन—(रंगनाथ से) भाई, रथ मँगाओ। आश्रम तक मैं स्वयं महर्षि को पहुँचाने जाऊँगा।

रंग०—अच्छी बात है। अभी रथ मँगाता हूँ।

(सबका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—सौदामिनी-भवन

समय—आधीरात

(श्रीमती सौदामिनीदेवी, दासियों समेत, गहरी नींद में सो रही हैं; युवराज यामुन दबे पाँव वहाँ पहुँचते हैं)

यामुन—(आनंद से) हृदय, अधीर क्यों होता है ? दैव अनुकूल है। बस, एक बार और इस विनोद-भवन की उन्मादिनी झलक देख ले, और फिर सदा के लिये मोह-ममता की बंधन-डोरी तोड़कर, उस उच्च आकाश पर उड़ान मार, जहाँ से विराग-विभावरी विकसित होती है, जहाँ से अनुराग-रंजिता उषा उतरा करती है। आहा ! वह अवस्था कैसी आनंदमयी और श्रेयस्कारिणी होगी ! रहने दो—उस अनिर्वाच्य भाव के व्यक्त करने का यहाँ अभी अधिकार ही क्या है ?

(चारों ओर देखकर) क्या यह वही विनोद-भूमि है, जो किसी समय उन्माद-रंजित देख पड़ती थी, जहाँ संगीत की स्वर-लहरी स्वर्ग से उतरकर हृदय-सागर को विलोड़ित किया करती थी, जहाँ सौंदर्य इन माधुर्य-विचुंबित विलोल पलकों पर थिरका करता था ? आज तो इस रंग-भवन का रूप ही परिवर्तित-सा देख पड़ता है। अथवा

अब वह आँखे ही नहीं हैं ! सचमुच आज वह आँखें नहीं हैं—

रूप कौ आसव पान कियो जिन नैननि नेह के हाथ बिकाने ;
प्रान-प्रिया-मुख-पद्मपराग पै मत्त मिलिंद लौं जे मड़राने ।
रंग-रँगीले रहे जे सदा गरबीले गुमान-भरे मुदमाने ;
नाहिं लखाय परै तिनतें अब, साँचहुँ आज वै नैन हिराने ।

निश्चय यही बात है । क्योंकि—

सोई रंगभूमि घूमि-भूमि कीनीं केलि जहाँ,
सोई रस-रंग, सँग रसिक-समाज-साज;
सोई प्रानप्यारी रूपवारी नौल नेहवारी,
गुनानि गरूरवारी सोभित मनोज-लाज ।
सोई परवीन बीन बाजै, रस-ऐनु वैनु,
सोई रितुराज, रतिराज, रसराज, राज ;
सोई सुखसार प्यार मोको अब और भयो,
प्रेम-रस-प्यास-भरी अँखियाँ वै नाहिं आज ।

अतएव भाव-दृष्टि ही प्रधान है ; क्योंकि—

जा हिय सों तिय भाटेंयतु काम-विवश कै केलि ,
सुता भेंटि उलहति तहीं वर वत्सलता-वेलि ।

अस्तु ! अब चुपचाप ही यहाँ से अंतिम बिदा लेनी चाहिए । संकल्प-विकल्प में पड़कर प्रभात हो गया, तो सब किया-कराया यहीं रक्खा रहेगा । देखो न—

दुति देह की हाय परी पियरी मुख चारु सरोज गयो कुम्हलाय ;
अब ताईं बिलोल बिलोचन वारि की बूँदें कपोलन पै रहीं छाय ।
भुजमूल लौं कंगन जाय खस्यो अग-रँग अनंग सु दीनों बहाय ;
हिय मेरे विराग को आतप, पै यह चंपलता क्यों गई मुरझाय ।

समझ गया ! अभागिनी अर्द्धांगिनी पद को सार्थक कर रही है । तो क्या इस सुख-दुःख-सहचारिणी को इस भाँति धोका देकर छोड़ जाना धर्म-संगत कार्य होगा ? कहीं मेरे इस वैराग्य-वृक्ष में कोई अनिष्ट फल फला, तो फिर मैं कहाँ का होकर रहूँगा ? (गंभीरता से) नहीं, यह न होगा । मेरा त्याग स्वार्थमूलक नहीं है । मैं जिस अलौकिक निधि के खोजने को जा रहा हूँ, उसमे मेरा ही नहीं, बरन् चराचर का कल्याण अंतर्निहित है । श्रद्धेय महाराज को, स्नेह-वत्सला माता को, इस पतिप्राणा तपस्विनी को, प्राणप्रिय प्रजा को, अधिक क्या, जीव-मात्र को मेरा गृहत्याग अखंड शांति देगा । इन लोगो के ऋण-परिशोध का यही एक-मात्र उपाय है । अस्तु । (सौदामिनी की ओर करुण-दृष्टि से देखकर) प्रिये, आज हमारा-तुम्हारा सांसारिक संबंध-विच्छेद होता है । इस अनित्य संबंध में रक्खा ही क्या है ? अब तो तुम्हारे साथ मेरा वह संबंध होगा, जिसमें वियोग की कल्पना तक नहीं है, जो एक-मात्र श्रेयस्कर और परमानंददायी है । प्रिये !—

जा कर सों कर कञ्जु गह्यौ तुअ इंदुमुखी, लहि प्रीति चिन्हारी;
जा कर सों तुअ अगनि भूषन भूषित कीन्हें सिंगार सँवारी।
जा कर सों गुहि मालति-माल हिये पहिराई अहो सुकुमारी!
ता कर सों तोहि मुक्ति कौ पथ बताय अभय-पद देहौं पियारी।

बस, अब यहाँ से चल देना ही अच्छा है। पूज्य माता जी का चरणस्पर्श कर अरुणोदय के पूर्व ही मंगल-यात्रा का श्रीगणेश कर देना चाहिए। रथ तो महर्षि के स्थान पर पहुँच ही गया होगा। मंगल-मूर्ति जनार्दन सब शुभ ही करेंगे।

(यामुनजी का प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—कावेरी-तट

समय—संध्या

(रसालिका, सुहासिनी और इंदुमती नाम की तीन स्त्रियाँ पनघट पर खड़ी हैं)

सुहासिनी—(रसालिका का हाथ थामकर) अरी, ऐसी क्या जल्दी है, जो तभी से जाने की धुन लगाए है? घर में क्या सोना बरसता है? अहा! कावेरी का केलि-कल्लोल तो देख। रसालिका होकर इस रसानंद-लहरी से भागना कहाँ का न्याय है?

रसालिका—(हाथ छुड़ाती हुई) रहने दे यह अठखेलियाँ ! घर में सब तरह से सुख ही है न ! मेरी-जैसी सास मिली होती, तो देख लेती। क्या मेरी कर्कशा सास के कलह-कलोल से भी बढ़कर कावेरी का केलि-कलोल होगा ? सखी, तू किसी के घर की बात तो जानती नहीं।

सुहा०—जानती हूँ, रत्ती-रत्ती जानती हूँ। पर इस वेला सब भूल गई हूँ। मेरी प्यारी सखी, तू भी भूल जा देख, यह नदी-नाव का संयोग है। नित्य तो मिलना-जुलना होता नहीं, और फिर आज की-सी चाँदनी रात, कावेरी का तीर और इंदुमती का संग यह सब बार-बार तो मिलेगा नहीं।

इंदुमती—न कहीं जायगी, न आयगी, यों ही इठला रही है। भला, हमसे मान न करेगी, तो करेगी किससे ?

सुहा०—(रसालिका की ठोढ़ी छूकर) सखी, सच ही आज की रात मन को मोहे लेती है। मेरा तो यह चंचल चित्त तभी से इन तरंगों पर नाच रहा है। रसालिका, तेरा रसिक मन क्या अब भी यहाँ से उचट रहा है ?

रसा०—बेबस हूँ। इन मछलियों का अहोभाग्य, जो इस आनंद-तरंगिणी से पल-भर भी नहीं बिछुड़तीं !

इंदु०—अब कही पते की बात !

रसा०—ठहर जाऊँगी। कहो, क्या कहती हो?

सुहा०—बहन, तेरी बलैया लूँ, उस दिन का पनघट-वाला गीत सुना दे।

इंदु०—(उत्कंठा से) हाँ कलकंठी, मैं भी तेरा निहोरा करती हूँ। ऐसा मणि-कांचन-संयोग विधाता से माँगने पर भी न मिलेगा।

रसा०—बदले में तुम्हें भी इंदुमती, अपनी कावेरी-वर्णनवाली कविता सुनानी होगी।

इंदु०—कैसी कविता! कविता-रचना भला मैं क्या जानूँ!

रसा०—छिपाने से क्या बच जाओगी। नंदिनी ने वह कविता सुनी थी। उसकी वह बड़ी प्रशंसा किया करती है। कहो, सुनाओगी?

इंदु०—अच्छा, सुना दूँगी, पर पहले गीत सुनूँगी।

सुहा०—मैं भी यही चाहती हूँ।

रसा०—मैं कब बाहर हूँ। तुम्हारी आज्ञा सिर-माथे है। सुनो—

(गाती है)

इहाँ तू क्यों ठाढ़ी पनिहारी?

औघट घाट, साँझ की बिरिया, गागर सिर पै भारी।

छलकत नीर, डिगत सिर गागर, भीजि गई रँगसारी;

कहाँ गिराय दियो कर-कँगना, कहाँ मुँदरिया डारी।

छिन पाछे छिन आगे देखति, घूमति ज्यों मतवारी।
सुरति तिहारी कहाँ हिरानी, छाई दृगनि खुमारी;
झूमति झुकति, पियो प्रेमासव, नेह-बान की मारी;
मटुकी पटकि मिलै किन पिय सों, सोचति कहा गँवारी?

दोनों—बलिहारी! बलिहारी!!

सुहा०—सखी, पीछे की कड़ी फिर तो कह।

रसा०—अच्छा सखी।

(फिर गाती है)

'मटुकी पटकि मिलै किन पिय सों, सोचति कहा गँवारी?'

सुहा०—इंदुमती, सुना! इस पद का कितना ऊँचा भाव है! अहा!

'मटुकी पटकि मिलै किन पिय सों, सोचति कहा गँवारी?'

इंदु०—स्वर-संगति और कंठ-माधुरी क्या कम चित्ताकर्षिणी है? बलिहारी!

रसा०—रहने दो यह गुण-गान। कविता सुनने को मिलेगी या कोरी बलिहारी का ही पुरस्कार दिया जायगा।

इंदु०—प्यारी रसालिका! काँच के टुकड़ों से भी कहा मणियों का मोल चुकाया जाता है? उस कविता में कुछ है नहीं। नंदिनी ने यों ही हँसी की होगी।

रसा०—कुछ भी हो, मैं तो सुनकर ही रहूँगी।

सुहा०—क्या हानि है सुनाने में इंदुमती ? मैं पद्य-रचना जानती होती, तो विना कहे ही घर-घर सुनाती फिरती।

इंदु०—अच्छा, सुनाए देती हूँ, पर हँसी न उड़ाना, क्योंकि पिंगल, अलंकार, रस आदि का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। लो, सुनो।

लखि कावेरी-कूल फूल मनु फूलत नैननि ;
कह्यौ न कछु वै जाय, रह्यौ थकि वह सुख बैननि।
सघन हरित तरु तीर नीर परसत झुकि झूमत ;
प्रतिबिंबित लहरात, लोल लहरनि लहि लूमत।
करि कल-कलरव बहति धार सुचि धवल प्रखरतर ;
कहुँ सिलानि टकराति, परत आवर्त मनोहर।
उलहि उमग तरंग-माल अति किलकति विलसति ;
मलयानिल मिलि केलि करति अति थिरकति हुलसति।
बिहंग करत कल्लोल कलित कूजत उड़ि साखनि ;
चुहचुहात फल खात, गिरावत रस अभिलाखनि।
सारस उड़ि-उड़ि करत शब्द पखनि कौ न्यारो ;
दीसति कहुँ बग-पाँति करत कूजन अति प्यारो।
मीन लहर-लौ-लीन उछरि बूड़ति पुनि उछरति ;
शिव-अर्चन-अवशेष अमल अच्छत लहि हरषति।

रसा०—धन्य है ! धन्य है !!

सुहा०—सुनो, सुनो।

इंदु०—सुनिए—

करत प्रात नर-नारी मुदित मज्जन पखारि जहँ ;
छूटत तन-अँगराग सुवासित होत वारि तहँ।
खेलत बालक-वृंद उछरि पैरत अरु बूड़त ;
अँजुरिन भरि-भरि नीर परस्पर छिरकन कूदत।
बकुल-माल उतराति, कहू कुसुमांजलि लहराति ;
फैली धूप-सुगंध घाट-घाटनि छवि छहराति।
संध्या-पूजन करत कोउ दृग मूँदि सुहावन ;
बहत विष्णु-अभिषेक-छीर मिलि नीर सुपावन।
बेद-घोष सुनि परत, बजत कहु संख अघासी ;
कहू घट घहनात घोर कलि-कलुष-विनासी।
धनि कावेरी सरित स्वर्ग-सुख-स्रोत स्रवै जहँ,
धनि-धनि श्री रंगधाम कामपूरन भूतल महँ।
हे विधिना, कर जोरि यहै मागति हम पुनि-पुनि ;
जनम-जनम यह मिलै भूमि जेहि जाँचत सुर-मुनि।
या कावेरी-कूल विहँग है कूजैं प्रफुलित,
होय मीन लौ लीन रहैं याके जल में नित!

दोनों—बलिहारी! सखी, हम भी तेरे स्वर में स्वर मिलावेंगी अहा!

तीनों—हे विधना!

या कावेरी-कूल बिहँग है कूजें प्रफुलित ;
होय मीन लौ लीन रहैं याके जल में नित ।

सुहा०—हम सबोंके अहो भाग्य, नित्य ही भगवती कावेरी का पुनीत दर्शन करती हैं !

रसा०—सच ही कावेरी की महिमा अनादि और अनंत है।

इंदु०—अनादि—अनंत न होती, तो वैकुंठ-धाम छोड़कर भगवान् श्रीरंग इस छोटे-से ग्राम में क्यों आ विराजते ।

सुहा०—श्रीरंग भगवान् भाव के भूखे हैं। महर्षि राम मिश्र बड़े भाग्यवान् हैं । उनका आश्रम आज स्वर्ग से भी अधिक दिव्य हो रहा है।

इंदु०—सत्य है सुहासिनी !

रसा०—आजकल ब्रह्मोत्सव तो है नहीं । मिश्रजी क्या कोई विशेष उत्सव कर रहे हैं ?

इंदु०—अरी, उत्सव से हमारा तात्पर्य नहीं है । मिश्रजी के आश्रम में कहीं से एक ऐसा दिव्य पुरुष आया है, जो बड़ा ही तेजवान्, सुंदर, सुशील और भक्त है । उसका ऊँचा माथा, बड़े-बड़े नेत्र, लंबे बाहु, चौड़ी छाती और गंभीर मुखाकृति देखकर वह साक्षात् देवता-सा जान पड़ता है ।

सुहा०—मुझे तो वह किसी ऊँचे राजकुल या ऋषि-वंश

का सुकुमार अंकुर जान पड़ता है। ऐसा पुरुष मैंने आज तक न कहीं देखा है, न सुना है।

इंदु०—सच कहती हो सुहासिनी! वह इस लोक का नहीं है।

रसा०—तुम दोनों ने उस महाभाग को कब और कहाँ देखा है?

सुहा०—हमने उस महात्मा का दर्शन परसों संध्या को इसी स्थान पर किया था।

रसा०—अहोभाग्य!

सुहा०—इंदुमती, जान पड़ता है, उसने विरक्त होकर अभी घर छोड़ा है। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में अब भी प्रियजनों के विछोह की रेखा झलक रही है। न-जाने, उसकी आभागिनी गृहिणी की क्या दशा होगी!

(आह लेती है)

रसा०—क्या ही अच्छा हो, जो वह महापुरुष मिश्रजी का उत्तराधिकारी हो सदा यहीं वास करे।

सुहा०—भगवान् श्रीरंग की लीला कौन समझ सकता है?

इंदु०—कल हम सब उस नर-रत्न के अवश्य दर्शन करेंगी। रसालिका, तुम्हें भी चलना होगा। संध्या को हमारे घर पर आ जाना। भूलना नहीं।

रसा०—आ जाऊँगी।

सुहा०—सास अधिक-से-अधिक दस-पाँच वाग्बाण छोड़ देगी, और क्या करेगी ?

रसा०—सब सह लूँगी। ऐसा शुभ अवसर बार-बार तो आता नहीं।

सुहा०—बड़ा विलंब हो गया। देखो, चंद्रमा कितना ऊँचा चढ़ आया है ! अब हमें पानी भरकर अपने-अपने घर चलना चाहिए।

रसा०—हाँ सखी, ठीक है।

(पानी का भरा घड़ा लिए सबका प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—श्री रंग का मंदिर

समय—प्रातःकाल

(राम मिश्रजी युवराज यामुन को वैष्णव-संस्कारों से संस्कृत कर उन्हें वैष्णव-तत्त्वों का उपदेश कर रहे हैं)

यामुन—गुरुवर्य, आज्ञानुसार ऐसा ही किया करूँगा।

राम मिश्र—इन उपदेशों को वत्स, हृदय में सदा धारण किए रहना। सार-रूप में एक बार फिर उन्हें मैं दोहराता हूँ, सुनो।

अष्टयाम प्रभु-नाम प्रेम-पीयूष पाग करु ;
सत-चरन-रज सेइ हुलसि नित आनद निर्भरु ।
धारि हृदय सम भाव काम क्रोधादिक परिहरु ;
सेवहु पर-उपकार-कल्प-तरु, राग-द्वेष हरु ।
रट रसना तें हरि-गुन-गनति, नैननि लहि हरि-रूप-रस ;
तिमि स्रवननि चरितामृत स्रवहि, करि जीवन हरिमय सरस ।

न्यास—योग में तो अब कोई संदेह नहीं है ? सब रहस्य समझ में आ गया न ?

यामुन—(हाथ जोड़कर) कोई संदेह नहीं है भगवन् ! आपके ज्ञान-खड्ग के आगे संदेह कहाँ ठहर सकता है ? वास्तव में, आज मैं कृतार्थ हो गया । धृष्टता क्षमा हो, तो एक प्रश्न और पूछूँ ।

राम०—वत्स, तुम्हारे समान ज्ञान-पिपासु पाकर मैं और किसके लिये तदीय रहस्य-सुधार छिपाकर रख छोड़ूँगा !

यामुन—प्रभो, बार-बार सुनने पर भी मुझे भक्त-माहात्म्य से अभी तक तृप्ति नहीं हुई है । आज मैं श्रीमुख से फिर एक बार माहाभाग वैष्णवों के लक्षण सुनना चाहता हूँ ।

राम०—(क्षण-भर नेत्र बंद कर) धन्य आलवंदार !

श्रुतस्य पुंसा सुचिरश्रमस्य
नन्वंजसा सूरिभिरीडितोऽर्थ ;

तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्। *

भक्तवर यामुन, सुनो। संक्षेप में, तुम्हें भागवत जनों के लक्षण सुनाता हूँ।

जहँ-तहँ नारायण लखै व्यापक रूप अनंत,
प्रभुहिं समर्पै करम सब सोई साँचो संत।
बिन नारायण-चिंतवन पलक कलप सम जाहि,
अष्टयाम हरि-ध्यान-रत वैष्णव कहिए ताहि।
शांत, दांत, निर्भ्रांत, नित अचल, अकिंचन रूप;
मन बच-क्रम-परहित-निरत सोइ भागवत-रूप।
काम-क्रोध-मद-लोभ नहिं, राग-द्वेष तें हीन;
सत्यनिष्ठ, शुचि, मानप्रद, भावभक्ति-रसलीन
संयत चित, संयत हृदय, संयत इंद्रिय जासु;
संयत कर्मादिक सतत, नाम भागवत तासु।
अतिसय मृदु, अतिसय सुहृद अतिसय दीनदयालु;
सरल, सरस, संततसुखद, सकरुण परम कृपालु।
जाके मन में रह्यो नहिं अहंकार कौ लेस;
सहजभाव विचरत अभय अमल भागवत-भेस।

---

* जिनके हृदय में मुकुंद भगवान् के चरणारविंद विराजमान हैं, उनके गुणों का सुनना ही चिरश्रमार्जित श्रवण का फल है। विद्वानों ने उन्हीं का सम्यक् स्तव कहा है।

—श्रीमद्भागवत

अहैं कर्म-निर्लिप्त जो छल-प्रपंच तें दूर ;
सोइ संतवर सत्यव्रत जाकौ जीवन-मूर ।
परदारा-परधन-विमुख, सम स्वभाव, निर्मोह ;
वीतराग, निर्द्वंद्व नित, नहिं काहू सों द्रोह ।
सहज कहनि, करनी सहज, सहज रहनि अरु नेम ;
सहज भेष, भाषा सहज, सहज-सहज सों प्रेम ।
मितभोजी, मितशयन-रत, मितभाषी जो होय ;
अमित प्रेम-रस-रसिकवर परम भागवत सोय ।
जो मन में सोइ बैन में, जो बैननि सोइ कर्म ;
कहिए ताकों संतवर, जाकौ ऐसो धर्म ।
भावुक भगवत भावते विलसत परम प्रमोद ;
अनहितहू पै हित करत बरसत प्रेम-पयोद ।
वेद-वाद ज्ञानादि सब देत प्रेम पै वारि ;
प्रियतम की इक झलक लगि गिनत तुच्छ फल चारि ।
रसना पै हरि-नाम-रस, नैनन में हरि-रूप ;
स्रवननि में हरि-कथामृत श्रवत अगाध अनूप ।
सरसत जाके रसमसे, हरि-अनुरागी नैन ;
प्रेम-सुधा बरसत बिमल, सोइ संत सुख दैन ।
प्रेमानंद-पुलकित परम विरहवंत, रसधाम ;
प्रेमवारि छलकत दृगनि झलकत ओज ललाम ।
प्रेम-वारुनी छानि कें नाचत गाय-बजाय ;

छिन रोवत, छिन हँसत, छिन गिरत भूमि पै धाय ;
रहत मूक उन्मत्त ज्यों, धारि जगत जड़-भाव ;
हिय में हित-दीपक दिपत, नित नूतन चित चाव ।
स्वर्ग-लाभ अपवर्ग-सुख बिना प्रेम जेहि धूरि ;
सोइ तदीय जाके हियें रह्यौ प्रेम भरि-पूरि ।
जागत-सोवत-स्वप्न हू हरि अनन्य गति जाहि ;
तीरथहू पावन-करत हरि-जन कहिए ताहि ।
जाति-पाँति कुल-कानि तजि दियो मान-मद धोय ;
हरिजन ऐसो लाख में एक भाग तें होय ।
हरिहू तें हरिदास को अधिक मान जो देत ,
संत-सिरोमनि जयति कोउ करहु कृपा बिन हेत ।

वत्स, ऐसे एकांत नारायण-परायण भागवत जन इस पृथ्वी पर बिरले ही मिलेंगे । भक्त की न तो कोई जाति-पाँति ही है और न कोई प्रतिबंध ही । भक्त-संसार में स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्ध, ज्ञानी-मूढ़, ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि किसी का भी प्रश्न नहीं है । भक्त की महिमा अनादि और अनंत है । भगवान् भी अपने भक्त के पीछे-पीछे दास की भाँति डोला करते हैं ! गंगाजल तथा अन्य सहस्रों तीर्थ जिसे शुद्ध नहीं कर सकते, उसकी शुद्धि भक्त के वाक्य-जल द्वारा ही हो जाती है । समस्त तीर्थ एक भक्त की चरण-रज-कणिका के लिये लालायित रहते हैं । जो सहजानंद बड़े-बड़े ज्ञानियों,

योगियों और कर्मठों को पच-पचकर प्राप्त नहीं होता, वह अनन्य हरि-भक्त के आगे अनायास ही आ पहुँचता है।

यामुन—गुरुवर्य, भक्त-चरितामृत मुझे कहाँ और कैसे पान करने को मिलेगा ?

राम०—वत्स, महाभाग आल्वारों के चरित और प्रबंध पढ़ो। इन्हीं प्रबंधों से तुम्हें अखंड शांति मिलेगी।

यामुन—ऐसा भाग्य कहाँ प्रभो !

राम०—यह क्या कहते हो यामुन ! भक्तवत्सल भगवान् श्रीरंग की शरण पाकर अब तुम निश्चल निर्भय पद पर पहुच चुके हो। मुझे विश्वास हो गया है कि अवश्य ही इस पाखंडपूर्ण भूमि पर भक्ति-कल्पतरु आरोपित करोगे। जाओ, भक्तिमार्ग का प्रचार करो। मायावादियों को जगाओ। विशिष्टाद्वैतवाद की ध्वजा फहरा दो। इसी मार्ग पर चलकर तुम भारतवर्ष में धर्मोद्धार कर सकोगे, अन्यथा नहीं।

यामुन—(मस्तक झुकाकर) जो आज्ञा प्रभो !

राम०—(यामुन के मस्तक पर हाथ फेरते हुए) वत्स ! आज मैं तुम्हें 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ। इस पद के तुम सर्वथा योग्य हो। जाओ, भक्तियोग का प्रचार कर इस नीरस मरुभूमि पर सरस प्रेम स्रोतस्वती को प्रवा-

हित कर दो। महापूर्ण, कांचीपूर्ण आदि मुमुक्षु तुम्हारा उपदेशामृत पान कर संसार में वैष्णव-तत्त्व का गगन-चुंबी मंदिर निर्मित करेंगे, और उस पर शेषावतार रामानुज स्वामी द्वारा कलश की स्थापना होगी। आलवंदार यामुना-चार्य! सावधान! आज इस शरीर का कर्तव्य पूरा हो गया। अब तुम इस पार्थिव देह को न देखोगे। जाओ, भगवान् श्रीरंग की शरण गहो, वही तुम्हारे एक-मात्र आरा-ध्य हैं।

यामुन—(अधीर होकर) गुरुदेव! गुरुदेव! यह क्या! प्रभो, कहाँ? कहाँ!......

(देखते-ही-देखते राम मिश्र अंतर्धान हो जाते हैं, और यामुना-चार्य उन्मत्त की तरह इधर-उधर दौड़ते हैं)

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—दक्षिण-प्रांत का एक वन

समय—संध्या

(महारानी मंजुभाषिणी और सौदामिनी-देवी, वैरागिनी के वेश में, एक पहाड़ पर खड़ी हैं)

मंजुभाषिणी—सौदामिनी, निश्चय ही हम मार्ग भूल गई हैं। यहाँ से तो दूर तक कोई गाँव दिखाई नहीं देता। हम लोग कितने ऊँचे शिखर पर चढ़ आई हैं! यहाँ से उस नदी की धारा कैसी पतली-सी जान पड़ती है! इस पहाड़ को उसने तीन ओर से घेर रक्खा है। दूर से स्वर्ण-मेखला-सी देख पड़ती है। सूर्य की किरणावली ने उसकी छटा को और भी आकर्षक बना दिया है। बेटी, थोड़ी देर में यहाँ सब ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा जायगा। देखो, भगवान् पद्मिनी-वल्लभ का अरुण बिंब क्षितिज की रेखा से जा लगा है। इस समय रंग-विरंगे बादलों ने आकाश को कैसा सुहावना बना दिया है! यह सांध्यगगन कितने कवियों को कल्पना की रंगभूमि पर न नचाता होगा? बेटी, इस घोर निर्जन वन में आज

रात को, न-जाने, हम पर कैसी बीतेगी! अभी तो चिड़ियाँ चुहचुहा रही हैं, पर थोड़ी देर में उनका चुहचुहाना भी बंद हो जायगा। उस सन्नाटे में, उस अंधकार में सौदामिनी! धीरज से ही काम चलेगा। घबराना नहीं। मेरी गोद मे सो जाना दुलारी! सबेरे कोई-न-कोई मार्ग मिल ही जायगा।

सौदामिनी—माता, आपके चरणों की छाया में मुझे किसका भय है? यह विपत्ति ही कितनी है! मैं तो माता, घोर-से-घोर विपत्ति को भी एक सौभाग्य ही समझती हूँ। परम कृपालु भगवान् का यह निर्जन नीरव निवास भी एक आशीर्वाद ही है।

मंजु०—धन्य है बेटी! अर्द्धांगिनी किसकी है! सच कहती हूँ हृदय-दुलारी! तुम्हें पाकर मैं क्या नहीं पा चुकी? यामुन का बिछोह तो एक तरह से मैं भूल ही गई हूँ।

सौदा०—(आह लेकर) क्या वह चरण कभी देखने को मिलेंगे माता!

मंजु०—बेटी, अधीर मत हो। यामुन मिलेगा, अवश्य मिलेगा। जिसे ढूँढने को हमने घर छोड़ा, राज्य छोड़ा, सर्वस्व छोड़ा, जिसकी एक झलक पाने को हमने यह भेष बनाया, क्या वह निर्दय यामुन हमें एकदम भुला देगा? जिसका जिस पर सच्चा स्नेह होता है, वह उसे निस्संदेह मिल जाता है।

मेरी प्राण-दुलारी सौदामिनी ! मुझ अभागिनी का तो नहीं, पर तेरा सौभाग्य, तेरा सहज प्रेम अवश्य ही हमारे पास उसे खींच लावेगा। हा ! यामुन को बिछुड़े आज एक साल हो गया ! जिसे मैं कभी एक पल को भी नहीं छोड़ती थी, उसके विना कितने दिन और कितनी रातें बीत गईं ! कहाँ होगा ? क्या करता होगा ? जिसे मैंने पलकों पर पाला, हृदय पर सुलाया, आज, न-जाने, वह कहाँ किस कँकड़ीली भूमि पर पड़ा होगा ! क्या खाता होगा, क्या पीता होगा ! उसे सबेरे दूध-मिश्री कौन देता होगा ? हा ! घर छोड़ते समय मेरे प्यारे यामुन ने, मेरे दुलारे लाल ने अपना मुखड़ा तक न दिखाया ! इस सरला के साथ भी प्रवंचना की ! बेटी, मेरी आँखों की पुतली ! अधीर मत हो। मेरे लाल को, मेरे भोले-भाले बच्चे को, मेरे उन्मादी यामुन को क्षमा करें। उसके अपराध पर ध्यान न दे। सौदामिनी ! यामुन जल्द ही मिलेगा।

सौदा०—(आँसू भरकर) माता, मैं कब अधीर होती हूँ ? आप ही उनके स्नेह में अधीर हो रही हैं। माता, मैं उन आराध्य चरणों को किसी स्वार्थ-साधन के लिये, किसी संसारी सुख के लिये नहीं देखना चाहती। मैं तो यह चाहती हूँ कि उन दुर्लभ चरणों को इस संसार-सागर से

तरने के लिये नौका बनाऊँ। क्या मेरी यह कामना कभी सफल होगी? माता, जिस अलौकिक निधि के खोजने में उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है, क्या मैं उस निधि के एक कण की भी अधिकारिणी नहीं हूँ? नहीं हूँ। होती, तो आज मैं उन चरणों से क्यों इतनी दूर रहती?

मंजु०—बलिहारी! सौदामिनी, बलिहारी! निराश होने का कोई कारण नहीं। तुम्हारी कामना अवश्य फूले-फलेगी।

सौदा०—आपका आशीर्वाद कब विफल होने लगा?

मंजु०—संध्या हो गई। अब कहीं सूर्य की एक किरण भी नहीं देख पड़ती है। इस निबिड़ अंधकार में हमें इसी पेड़ के नीचे जैसे-तैसे रात बितानी होगी। कोई चिंता नहीं।

सौदा०—माता, आप विश्राम करें, तब तक मैं आपके पैर पलोटूँगी। पानी पीना हो, तो पीजिए, जल-पात्र में बहुत पानी है।

मंजु०—(सौदामिनी को हृदय से लगाकर) मुझे तनिक भी थकावट नहीं है बेटी! पहले तुम्हीं सो लो। मुझे सोना होगा, तो पीछे सो लूँगी। पर ऐसी विपदा में किसकी आँख लगेगी सौदामिनी! किसी तरह रात काटनी है। बेटी, कोई गीत आता हो, तो गाओ। यही सेवा मैं तुमसे लूँगी। हाँ, वही 'जमुना के तीर'वाला गीत गाओ।

सौदा०—जो आज्ञा माता !

(सौदामिनी गाती है)

गीत

चलो री, वा जमुना के तीर ;
स्याम घटा छाई जहँ सजनी, लेत लहरिया नीर ।
एक अली ठाढ़ी उत कब तें जोवत पिय की बाट ;
छिन पाछे, छिन आगे हेरति, डोलति विरह-अधीर ।
वा जमुना के तीर सखी री, बरसत प्रेम-पयोद ;
चित-चातक भरि-भरि रस पीवत, मेटत हिय की पीर ।
मची तहाँ हेली, कबतें चलु लगन-बिथा की लूट ;
या नीरस थल में अब आली, धारूँ कैसे धीर ।

मंजु०—धन्य है सौदामिनी, उन विरही जनों को, जो इस पद के सुकुमार भाव का स्पर्श कर उस ऊँचे आकाश पर उड़ा करते हैं, जहाँ सुख और दुःख, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जहाँ दिन दिन नहीं, रात रात नहीं, जहाँ सदा उत्कंठा-ही-उत्कंठा है, लालसा-ही-लालसा है !

नेपथ्य में—

"अरे, इधर आ भाई ! यहीं तो कोई गा रहा था। हाँ, बहुत पास है, चला आ।"

सौदा०—(चौंककर) कौन है माता ? आह ! कैसा गंभीर स्वर है !

मंजु०—(उठकर) देखो—यह झाड़ियाँ । इन्हीं में होकर कोई मनुष्य घुसता आ रहा है। कोई चिंता नहीं । ईश्वर का नाम लो।

सौदा०—हाँ माता, देखो वह आ पहुँचे ! (डरकर) माता, यह कौन है ?

(दो काले भयंकर पुरुषों का प्रवेश)

मंजु०—तुम कौन हो ?

पहला—(प्रणाम कर) हम लोग किरात हैं माता ! आप इस डरावने वन में, इस ऊँचे पहाड़ पर रात-भर कैसे रहेंगी ? यह बाघ और रीछों का अड्डा है ! चलो, हमारी मढ़ैया में रात को रहो । हम आपकी रखवारी करेंगे। सवेरे जहाँ आप जायँगी, हम पहुँचा देंगे ।

दूसरा—हाँ, यही ठीक होगा, लो, उठो ।

मंजु०—(सौदामिनी की ओर देखकर) क्यों बेटी ?

सौदा०—चलना ठीक है । इन सज्जन किरातों को परमात्मा ने ही भेजा है ।

मंजु०—भैया, यहाँ से कावेरी-नदी कितनी दूर है ?

पहला—कावेरी ! यही तो है कावेरी । आपने देखी होगी । सामने ही तो है । यहाँ से चार-पाँच कोस होगी।

सौदा०—(उत्कंठा से) और श्रीरंग-धाम कहाँ पर है ?

दूसरा—यहाँ से बीस कोस है।

मंजु०—वहाँ कोई बूढ़े ऋषि भी रहते हैं ?

दूसरा—रहते तो थे, पर अब नहीं हैं।

मंजु०—चोला छोड़ दिया है क्या ?

दूसरा—हाँ।

मंजु०—नारायण ! नारायण !!

पहला—माता, वह बड़े भारी महात्मा थे। हम लोग कभी-कभी उनके आश्रम को कंदमूल लेकर जाया करते थे।

दूसरा—उनसे कोई काम था क्या ?

मंजु०—नहीं भैया।

पहला—माता, अब यहाँ से चल देना ही ठीक है। बास पाकर रीछ आ गए, तो फिर कुशल नहीं। हमारी मढ़ैया यहाँ से पास ही है। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा। लो, चलो।

मंजु०—सौदामिनी, उठो।

पहला—हमारे पीछे-पीछे चली आओ।

मंजु०—अच्छा भैया !

सौदा०—(डरकर) माता, यह कौन बोल रहा है ? बड़ा डरावना शब्द है !

मंजु०—डरो मत बेटी !

पहला—देवी, डरो मत। यह चीता बोल रहा है। यहाँ से वह बहुत दूर है।

दूसरा—आओ, इन झाड़ियों में हो नीचे उतर चलो।

मंजु०—अच्छा भैया!

(सब लोग पहाड़ के नीचे उतर जाते हैं)

दूसरा दृश्य

स्थान—श्रीरंगजी का मंदिर

समय—मध्याह्न

(यामुनाचार्य और उनके शिष्य काचीपूर्ण स्वामी बैठे वार्तालाप कर रहे हैं।)

कांचीपूर्ण—भगवन्, ब्रह्मसूत्र पर शारीरिक भाष्य से भी कोई प्राचीन भाष्य क्या है?

यामुनाचार्य—शारीरिक भाष्य तो सबसे पीछे का भाष्य है। इसके पहले ब्रह्मसूत्र पर कई भाष्य बन चुके थे। पर अब वे सब मिलते नहीं। केवल दो-एक भाष्य प्राप्य हैं। महर्षि बोधायन-कृत भाष्य सर्वोत्तम है। इच्छा है कि एक विशिष्टाद्वैत-सिद्धांत-प्रतिपादक नवीन भाष्य लिखूँ। पर मेरी इच्छा से क्या होगा। परमात्मा की इच्छा होगी, तो वह करा लेंगे, मैं तो उनके हाथ का एक यंत्र हूँ।

कांची०—बोधायन के भाष्य में भी मायावाद, अध्यासवाद या विवर्तवाद का कहीं निरूपण पाया जाता है ? या केवल शारीरिक भाष्य में ही इसका आविष्कार किया गया है ?

यामुन—कांचीपूर्ण, मायावादादि का पहले के भाष्यों में कहीं आभास भी नहीं मिलता ।

कांची०—तो क्या शंकराचार्य की ही ये सब कपोल-कल्पनाएँ हैं ?

यामुन—महापुरुषों के सिद्धांतों को कपोल-कल्पना मत कहो । श्रीशंकराचार्य सच्चे धर्मोद्धारक थे । उन्होंने देश-काल-परिस्थिति के अनुसार ही मायावाद का प्राकट्य किया था । यदि वह इन वादों का आश्रय न लेते, तो यहाँ से बौद्धों और जैनों का बहिष्कार असंभव ही था । कांचीपूर्ण, समय के अनुसार सिद्धांतों का निर्माण हुआ करता है । वह समय ऐसा ही था कि उन्हें ब्रह्मसूत्रादि ग्रंथों पर उस प्रकार के भाष्य लिखने पड़े । आज समय और है । अब हमें सत्य और शांति के और भी अधिक निकट पहुँचना है । अतएव आज हमें मायावाद के खंडन की आवश्यकता आ पड़ी है । किंतु मायावाद अथवा किसी भी वाद के प्रवर्तकों और आचार्यों को भला-बुरा कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है । हमारा वैष्णव-सिद्धांत तो इतना ऊँचा, विशाल और

उदार है कि वह तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यंत सभी का समभाव से आदर करने को तैयार है। कांचीपूर्ण, वैष्णव-धर्म की सहृदयता और उदारता ही तो उसके प्राण हैं। भूलकर भी कभी संकीर्णता को हृदय में स्थान न देना।

कांची०—भगवन्, शांकर संप्रदाय में भक्तियोग तो एक प्रकार से है ही नहीं। क्या उसके प्रवर्तक का हृदय इतना कठोर और नीरस था कि उसमें, सिवा शाब्दिक कँटीले वृक्षों के, भक्ति-माधवी की कभी एक लता भी अंकुरित न हुई ?

यामुन—यह तुम्हारा भ्रम है कांचीपूर्ण ! श्रीशंकराचार्य जितने उद्भट और प्रचंड थे, उतने ही वह सदय और सरस भी थे। यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि उनका समय भक्तिवाद के लिये उपयुक्त न था। यद्यपि उन्होंने प्रकट रूप से भक्ति का निरूपण नहीं किया, तथापि उनके हृदय में अखंड भक्ति की दिव्य ज्योति प्रज्वलित रहती थी। उनके रचे स्तोत्र तो पढ़कर देखो। उनमें भक्ति-रस का कैसा अटूट प्रवाह है। कांचीपूर्ण, श्रीशंकराचार्य ने राग-द्वेष से प्रेरित हो शिव, विष्णु, शक्ति अथवा अन्य देवों में भेद-बुद्धि से काम नहीं लिया। यही तो महानुभावों का एक अलौकिक गुण है।

कांची०—इस उदार भाव के साथ-साथ अनन्यता का निर्वाह कैसे हो सकेगा स्वामिन् ?

यामुन—अनन्यता में तनिक भी अंतर नहीं पड़ सकता। उदारता अनन्यता का ही चरम विकास है।

कांची०—आचार्यवर, मैं आज तक अनन्यता का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सका। क्या आप कृपा कर उसकी संक्षिप्त व्याख्या करेंगे ?

यामुन—महाभाग, अनन्यता की स्पष्ट व्याख्या कौन कर सकता है ? इस शब्द की महिमा शब्दातीत है। (नेत्र बद कर) अहा !

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते।"

अनन्य होना बड़ा कठिन है भाई ! सच्ची अनन्य तो व्रज-गोपिकाएँ ही थीं। अपने सूत्रों में 'यथा व्रजगोपिकानाम्' लिखकर महाभागवत नारद गोलोक-विहारिणी व्रजांगनाओं की अनन्यता भली भाँति सिद्ध कर चुके हैं। धन्य है !

विरह-उदेग-सिंधु बूड़ि-बूड़ि भई पार,
चूर-चूर भई तऊ खेत तें मुरी न नेक ;
बाढ्यौ उर माहिं नाहिं आए घनश्याम जौलौं
प्रलय-पयोधि-जैसो भारी करुनोदरेक।
कुल छाँड्यो, कानि छाँडी, गेहकौ सनेह छाँड्यो,
छाँड्यो सब, नाहिं छाँड़ी प्रीति की गही जु टेक ;

पति छाँड़्यौ, पूत छाँड़्यौ, बंधु औ कुटुंब छाँड़्यौ,
छाँड़्यौ नहिं प्रानप्यारो नंद कौ कुमार एक।

इसे कहते हैं अनन्यता! भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से इन त्रिलोक-वंदनीया अनुराग-रँगीली गोपियों की महिमा गाई है। अहा! नंद-नंदन कहते हैं—

(गाते हैं)

गीत

धन्य-धन्य ब्रजगोप-कुमारी;
प्रेम-धुजा रसराज-पुजारिन, प्रीतम-हृदय-दुलारी।
नित्य विहार-अनन्यरसिकनी मेरी परम पियारी;
हम तुममें नहिं नेक भेद अब, बलिहारी-बलिहारी।

कांचीपूर्ण, अनन्य भक्त अपने आराध्य देव को चराचर में व्याप्त देखता है। घट-घट में उसे अपने प्यारे की झलक मिलती है। शिव, विष्णु, शक्ति आदि के नाम-रूप का उसे ध्यान तक नहीं रहता। खंडन-मंडन के वाद-विवाद से उसे क्या प्रयोजन है? पतिपरायणा स्त्री केवल अपने पति को ही जानती है। पति ही उसका सर्वस्व है। पति के ही नाते से वह घर के अन्य कुटुंबियों की सेवा-साधना करती है। अनन्य के पूर्ण हृदय में क्षुद्र राग-द्वेष स्थान कैसे कर सकता है? ब्राह्मी अवस्था में स्थित महानुभाव ही अनन्यता की आनंद-लहरी में विहार कर सकते हैं, अन्य नहीं।

कांचीपूर्ण—धन्य है प्रभो ! उन अनन्य नारायण-परायण महाभागवतों को, जो इस आनंद-लहरी में अष्टयाम निमग्न रहते हैं !

यामुन—इसमें संदेह ही क्या ?

(शार्ङ्गधर का प्रवेश)

यामुन—क्या है शार्ङ्ग-धरजी ?

शार्ङ्गधर—(प्रणाम करके) महाराज, द्वार पर दो राजपुरुष खड़े हैं। वे इसी समय आपका दर्शन करना चाहते हैं।

यामुन—(विस्मित होकर) राजपुरुष !! कहाँ से आए हैं ?

शार्ङ्गधर—ज्ञात नहीं। देखने में बड़े सौम्य प्रतीत होते हैं। उनमें से एक तो बहुत ही वृद्ध है। आज्ञा हो तो ले आऊँ।

यामुन—अच्छा, जाओ, ले आओ।

शार्ङ्गधर—जो आज्ञा।

(दो राजपुरुषों का, शार्ङ्गधर के साथ, प्रवेश ; दोनों यामुनाचार्य को साष्टांग प्रणाम करते हैं)

यामुन—(उठकर) महामात्य ! महामात्य ! उठें, आर्य ! यह क्या करते हैं ? (दूसरे से) प्यारे रंगनाथ, उठो। आओ, तुम्हें हृदय से लगा लूँ। भैया, कुशल तो है ?

(महामात्य और रंगनाथ को उठाकर यामुनाचार्य सादर आसन पर बिठाते हैं)

महामात्य—महात्मन्, आज यह दास कृतार्थ हो गया।

यामुन—(नम्रता से) आर्य, यह आप क्या कहते हैं ! मैं कोई महात्मा नहीं हूँ, आपका वही यामुन हूँ। राजनीति-विधान के तो आप मेरे पूज्य गुरु हैं। आज मेरा अहोभाग्य, जो आपका दर्शन हुआ !

महा०—अब आप मेरी गोद में खेलनेवाले यामुन नहीं हैं। आज आप प्रबुद्ध यामुनाचार्य हैं। जगद्गुरो ! आज मैं आपका नहीं, वरन् आप मेरे गुरु हैं।

यामुन—आर्य, क्यों वृथा लज्जित करते हैं ! मैं आपके आगे जो था, वही हूँ और वही रहूँगा।

महा०—यह आपकी महानुभावता है।

यामुन—पूज्य माताजी सकुशल तो हैं ? श्रीमान् मदुराधीश शरीर से अच्छे तो हैं ? मेरे प्राणप्रिय सखा सानंद तो हैं ? महामात्य, आप अन्यमनस्क-से क्यों हैं ? राज्य में कोई अनिष्ट तो नहीं हुआ ? श्रीमान् से, अनजान में, क्षात्र और ब्राह्मधर्म के सनातन संबंध में कोई विच्छेद तो नहीं हो गया ?

महा०—(आँसू भरकर) महाराज, श्रीमान् मदुराधीश सकुशल हैं। उनका राजमुकुट आजभी ऋषियों के पाद-पीठ पर अवनत रहता है, उनके धनुष पर से आज भी मुनियों

के आश्रमों के निकट आप-से-आप बाण उतरकर गिर पड़ता है। ब्राह्म और क्षात्रधर्म का चिरंतन संबंध आज भी वहाँ ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। किंतु एक अभाव है।

यामुन—(घबराकर) वह क्या ?

महा०—आज मदुरा का राजप्रासाद श्री-विहीन हो गया है। आज वहाँ केवल विश्वास है, श्रद्धा नहीं—इंद्र है, शची नहीं।

यामुन—क्या पूज्य माताजी नहीं हैं ? क्या उनका स्वर्ग-वास हो गया ? हा ! मातेश्वरी !

महा०—(सान्त्वना देते हुए) नहीं, नहीं, स्वर्गवास नहीं हुआ। आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं ! श्रीमती राजमहिषी अभी इसी लोक में हैं।

यामुन—कहाँ हैं आर्य ! वे चिराराध्य चरण ?

महा०—आपके वियोग में मदुरा छोड़े उन्हें छः मास हो गए हैं। साथ में केवल सौभाग्यवती सौदामिनीदेवी हैं। विना किसी से कुछ कहे-सुने ही वे स्वर्गीय देवियाँ आपकी खोज में मदुरा-नगरी छोड़कर चल पड़ी हैं ! हम लोगों ने समस्त दक्षिण-प्रांत छान डाला है। पर आज तक कहीं उनका पता नहीं चला। आपका दर्शन तो यहाँ अनायास ही हो गया है। हृदय कहता है कि राजमहिषी और राजवधू का भी शीघ्र ही दर्शन होगा।

यामुन—(रोते हुए) कौन जानता है आर्य ! हा माता ! इस पापी कलंकी ने सिवा दुःख के तुम्हें कभी लेशमात्र भी सुख न दिया। हा !

गीत

गई किते हा ! मैया मेरी ?
मो निरदय पाहन के कारन भई कहा गति तेरी !
करिहै कौन प्यार अब मोकों कहि-कहि 'लालन' एरी ;
दैहै कौन दूध दधि मेवा माखन साँझ-सवेरी।
कीनी नाहिं आजलौं सेवा कबहुँ न चरन गहे री ;
मचलि-मचलि नित करी ढिठाई दीनी बिपति घनेरी।

घर छोड़ते समय, हा ! मैंने माता का आशीर्वाद भी न लिया, उनके हाथ से दो घूँट पानी भी न पिया ! डरते-डरते उस रात चरण-स्पर्श किया था। हा ! ऐसे निर्दय कठोर कुपुत्र के लिये उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया ! मैं अब कहाँ का रहा ? न लोक ही साध सका, न परलोक ही ! मेरी साधना किस काम की ? जिस साधना-कुंड में दुखिया माता का संतप्त आँसू—नहीं, नहीं रुधिर—गिर रहा हो, उसमें आहुत की हुई आहुति क्या कोई देवता ग्रहण कर सकता है ? रंगनाथ ! मैं बड़ा पापी हूँ, बड़ा कलंकी हूँ।

रंगनाथ—महाराज, आप तो ज्ञानवान् हैं। क्यों ऐसे

अधीर हो रहे हैं ? हम लोगों को शीघ्र ही श्रीमती माताजी का दर्शन होगा ।

कांची०—(स्वतः) वास्तव में, इस पृथिवी पर मातृस्नेह अतुलनीय है । ऐसा न होता, तो इतने बड़े योगेश्वर क्यों साधारण मनुष्य की भाँति विलख-विलखकर रोते ?

यामुन—(आह लेकर) और—और उस अभागिनी, उस तपस्विनी के लिये क्या कहूँ ! मैं बडा वंचक हूँ । उस पति-प्राणा देवी के साथ प्रवंचना करके सचमुच ही मैंने अक्षम्य अपराध किया है । हा सरले !

निकसि न पायो हो उमडि, दृगनि प्रेम-रस-नीर ;
हौं निरदय तौलौं हन्यो, विषम विरह को तीर ।
परस्यौ नहिं कर-कंजु, चलत समै वा बाल कौ ;
बेलि अछूती मंजु, गई हाय मुरझाय इमि ।

मेरी पाखंड-साधना से उस साध्वी की साधना कहीं अधिक ऊँची है । धन्य है उस बड़भागिनी को, जो माताजी के पूज्य चरणों की नित्य सेवा करती होगी ! रंगनाथ ! मैं ही सब प्रकार से अभागा हूँ ।

रंग०—महाराज, आपके समान महाभाग कौन है ? भगवान् श्रीरंग में अनन्य भक्ति इस लोक में कितने साधकों को मिली है !

यामुन—(महामात्य से) आर्य, भगवान् का प्रसाद पाकर दो-चार घड़ी विश्राम कीजिए। कल सबेरे हम लोग माताजी को ढूँढने चलेंगे। ठीक है न रंगनाथ !

दोनों—हाँ, यही ठीक होगा।

यामुन—(शार्ङ्गधर से) शार्ङ्गधरजी, आप लोगों के आतिथ्य का समुचित प्रबंध कर दो। आप लोग मेरी ही कुटी में रहेंगे।

शार्ङ्गधर—जो आज्ञा।

यामुन—आर्य, चलिए।

महा०—चलिए।

(सबका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—कावेरी-तट पर एक झोपड़ी

समय—संध्या

(महारानी मंजुभाषिणी कुश-शय्या पर अस्वस्थ-सी लेटी हैं; सौदामिनीदेवी उनकी प्रसन्नता के लिये, तानपूरे के स्वर में, एक मधुर गीत अलाप रही हैं)

गीत

कहाँ है वा जोगी कौ देस ?

जाके रंग में बूड़ि सखी री, धारयो है यह भेस।

जा दिन तें वा सों लौ लागी, छूटि गई कुल-कान ;
बीन भयो तन रग-रग-तारनि निकसति वाकी तान ।
वा योगी कौ देस सखो री, मोकों देहि बताय ;
दरस पाय वा निरमोही के, लैहौं नयन सिराय ।

मंजु०—बलिहारी !

सौदा०—माता, और क्या आज्ञा है ?

मंजु०—तेरे इस गीत में ऐसी क्या मोहिनी है, जिसने मुझे, न-जाने, क्या-से-क्या कर दिया ? सौदामिनी, इस समय मैं स्वस्थ हूँ । सिर की पीड़ा बहुत कुछ कम हो गई है । बेटी, किरात आज भी नहीं लौटे ! आज उन्हें गए चौथा दिन है । कहीं बेचारे किसी बाघ या रीछ के मुँह में न पड़ गए हों ! परोपकारियों को इस संसार में कब सुख मिला है ?

सौदा०—कभी नहीं माता ! यहाँ तो अधर्मी ही फूलते-फलते हैं । परोपकारियों का तो सारा जीवन दुःख में ही बीतता है ।

मंजु०—बेटी, दो दिन से मुझे आँखों से बहुत कम सूझता है । बड़ी देर में तुम्हारा मुख देख पड़ता है, सो भी धुँधला-सा । क्या मैं प्यारे यामुन का मुख न देख सकूँगी सौदामिनी ?

(रोती है)

सौदा०—(आँसू भरकर) माता, आपकी आँखों की ज्योति

उन्हीं के बिछोह में रोते-रोते क्षीण हो गई है। रात-दिन रोने से क्या वे मिल जायँगे? माता, मेरी ओर देखो। मुझे फिर कौन है? मैं तो एक आप ही को जानती हूँ।

(रोती है)

मंजु०—बेटी, अधीर मत हो। मेरी आँखों की पुतली, मेरी प्यारी सौदामिनी, अधीर मत हो।

(सौदामिनी के आँसू पोंछती है)

नेपथ्य में—

"नारायण हरे! नारायण हरे!!"

मंजु०—(चौंककर) कौन है बेटी?

सौदा०—स्वर तो किसी परिचित का-सा जान पड़ता है।

मंजु०—मुझे भी यही प्रतीत होता है। जाओ, देखो तो।

(एक वैष्णव का प्रवेश)

वैष्णव—नारायण हरे!

सौदा०—महात्मन्! आप कौन हैं? (लज्जित होकर स्वतः) ऐं! इनकी आकृति तो उन्हीं की-सी है। (प्रकट) महात्मन्! आप कहाँ से पधारे हैं?

वैष्णव—तपस्विनी! सौदामिनी!

सौदा०—नाथ! प्राणनाथ! दासी को क्षमा करो।

(सौदामिनीदेवी वैष्णव के पैरों पर गिर पड़ती हैं; वैष्णव पीछे हट जाता है)

वैष्णव—दूर ! दूर ! संन्यासी का स्पर्श मत कर । देवी ! इस अस्पृश्य अधम का स्पर्श मत कर ।

मंजु०—(उत्कंठा से) कौन ? सौदामिनी, कौन है ? मेरा यामुन है क्या ?

सौदा०—हाँ, माता, स्वप्न नहीं है ।

यामुन—(दौड़कर) मा, मा !

(मंजुभाषिणी के पैरों से यामुनाचार्य लटप जाते हैं)

मंजु०—मेरा लाल, मेरा यामुन, कहाँ है ? तेरा मुख कहाँ है, बेटा ? आ, तेरा मुख चूम लूँ भैया ! कहाँ है ?

(हाथ से मंजुभाषिणी यामुनाचार्य का मुख टटोलती हैं)

मंजु०—(रोती हुई) भैया, मैं अंधी हो गई हूँ । लाल ! (डाढ़ी पर हाथ फेरकर) इतनी बड़ी दाढ़ी क्यों बढ़ा ली है बेटा !

(यामुनाचार्य मंजुभाषिणी की आँखों पर हाथ फेरते हैं और उनकी दृष्टि खुल जाती है)

(मुख चूमकर) बेटा ! मेरे लाल !

मेरो प्यारो लाल तू, आजा मेरो लाल !
हृदय-दुलारो लाड़िलो, मानस-बाल मराल !
मानस-बाल मराल, बालगोविंद कन्हैया ;
यामुन मेरो प्रान, प्रान-आधार रमैया ।

या हिय कौ इक हार, सार मो जीवन केरो ;
मिल्यौ आज पुनि बडे भाग तें बारो मेरो।

(मंजुभाषिणी बार-बार यामुनाचार्य का, गोद में बिठाकर, प्यार करती हैं)

सौदा०—(स्वत) वात्सल्य-भाव ही संसार में सर्वोपरि भाव है। इस मातृप्रेम के आगे मेरा प्रेम शतांश भी नहीं है।

मंजु०—बेटा ! इस तपस्विनी को कृतार्थ कर।

यामुन—माता, मुझसे क्या कहलाना चाहती हो ?

सौदा०—(मंजुभाषिणी से) माता, आर्यपुत्र को संकोच में न डालो। मैं इतने में ही अपने को कृतार्थ मानती हूँ। इन चरणों का दर्शन मेरे लिये क्या कम सौभाग्य की बात है ?

मंजु०—धन्य है बेटी !

पुरुष-प्रकृति में रहैगो, जौलौं नित अनुराग ;
तौलौं बेटी, रहैगो तेरो सहज सुहाग।

यामुन—सौदामिनी, माता का चरण-स्पर्श करो।

(सौदामिनी माता का चरण-स्पर्श करती है)

यामुन—मा, अब भगवान् श्रीरंग की शरण में चलो। वहीं मैं आपका जी-भर सेवा कर सकूँगा।

मंजु०—बेटा, क्या मदुरा न चलोगे ?

यामुन—क्यों नहीं ? एक बार श्रीमान् का अवश्य दर्शन करूँगा, और उन्हें भी भगवान् श्रीरंग की शरण में लाऊँगा। मा, नारायण की शरणागति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अनेक जन्मों के पुण्य-संचय से यह सुगति मिलती है।

(दो किरातों का प्रवेश)

मंजु०—भैया, इन किरातों से मैं जन्मांतर में भी उऋण न हो सकूँगी। इन्हीं की कृपा से आज मैं तुम्हारा मुख देख पाई हूँ।

(किरात यामुनाचार्य को प्रणाम करते हैं)

यामुन—तुम लोग तो आश्रम में आया करते थे ? पूज्य-पाद गुरुदेव के आगे मैंने तुम्हें आश्रम में देखा था, ठीक है न ?

पहला किरात—ठीक है महाराज ! तब से हम लोग वहाँ नहीं गए।

दूसरा किरात—महाराज, इन देवियों को हम लोग एक पहाड़ पर से यहाँ रात को लाए थे।

मंजु०—हाँ भैया, इन्हीं लोगों ने हमें रीछों और बाघों के मुख से बचाया है। इन्हें मैं यामुन, तेरे ही समान मानती हूँ।

यामुन—धन्य है ! इन्हीं किरातों के बल-भरोसे पर मा, यहाँ ऋषि-मुनियों का तप निर्विघ्न समाप्त होता है। मा, अब चलना चाहिए, क्योंकि हमें आज ही श्रीरंग-धाम का दर्शन करना है । यह किरात भी साथ में चलेंगे।

मंजु०—अच्छा भाई !

(सबका प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—श्रीरंगजी का मंदिर

समय—प्रातः

(श्रीयामुनाचार्य श्रीरंग भगवान् की आरती उतार चुके हैं; महारानी मंजुभाषिणी, सौदामिनीदेवी, काचीपूर्ण स्वामी, महापूर्ण स्वामी, शार्ङ्गधर, चक्रधर, मदुरा के महामात्य, रंगनाथ आदि खड़े श्रीयामुनाचार्य के साथ, भगवान् की स्तुति पढ़ रहे हैं)

स्तुति

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ;
सहारवक्षस्थलकौस्तुभश्रियं, नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ;
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण शशाङ्क प्रजापतिस्त्व प्रपितामहश्च ;
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते।
नमो पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व,
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्व सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ;
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

शान्ताकार भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं,
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ;
लक्ष्मीकान्तं कमलनयन योगिभिर्ध्यानगम्य,
वन्दे विष्णु भवभयहर सर्वलोकैकनाथम्।

(सब लोग साष्टाग दंडवत्-प्रणाम करत हैं)

नेपथ्य में—

"यामुन! प्रबुद्ध यामुन! तुम्हारे समस्त संकल्प सफल होंगे। शेषावतार रामानुज स्वामी तुम्हारे संकल्पों को पूरा करेंगे। तुम्हारे संप्रदाय पर सदा विष्णुप्रिया लक्ष्मी की कृपा रहेगी। वैष्णव-धर्म की विजय-वैजंती अनंत कालपर्यंत पृथ्वी पर फहरायगी।"

(आकाश से पुष्प-वर्षा होती है)

सब लोग—जय हो, जय हो!

नेपथ्य में—

"यामुन! और क्या चाहते हो?"

यामुनाचार्य—भगवन् ! आप प्रसन्न हैं, तो भरत का यह वचन सफल हो—

(भरत-वाक्य)

हरि नाम-प्रेम-पियूष-रस लहि भक्ति-भाजन सब बनैं ;
सतसंग-सेवन करैं नित, तजि दंभ प्रभु-गुन-गन गनैं !
लहि लोक में स्वातन्त्र्य-सुख, परलोक में विचरैं अभै ;
सब होंहि नारायण-परायण, सत्य पावै नित बिजै !

नेपथ्य में—

"एवमस्तु !"

(यवनिका-पतन)

उत्तमोत्तम नाटक

दुर्गावती

इस वीररस-पूर्ण ऐतिहासिक नाटक के लेखक हैं लखनऊ-युनिवर्सिटी के हिंदी-अध्यापक प० बदरीनाथजी भट्ट बी० ए०। भट्टजी की लेखनी में कैसा चमत्कार है, यह इस नाटक के पढ़ने से ज्ञात हो जायगा। यह मौलिक नाटक बड़ा ही मनोरंजक, विनोदपूर्ण और भावमय है। कहीं वीरता के ओजस्वी वर्णन से आपका रोम-रोम फड़क उठेगा, तो कहीं साहित्यिक विनोद से आप खिलखिला उठेंगे। पुस्तक की छपाई-सफ़ाई बड़ी आकर्षक है। अनेक रंगीन और सादे चित्रों से सुसज्जित का मूल्य १), सुंदर रेशमी जिल्द १॥)

बुद्ध-चरित्र

अनुवादक, सुधा-संपादक पं० रूपनारायणजी पांडेय कविरत्न। पांडेयजी ने बँगला-नाटकों का ऐसा भाव-पूर्ण अनुवाद किया है कि बिलकुल मौलिक-से मालूम होते हैं। समाज, भाव, भाषा, शैली सब पर हिंदीपन और स्वाभाविकता की छाप लगी है। राजसी सुख-भोग की लालसाओं को लात मारकर, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये ससार के सारे सुखों को तिलांजलि देकर महात्मा बुद्धदेव किस तरह आत्मचिंतन और वैराग्य में लीन हुए हैं, इसका स्पष्ट चित्र देखना हो, तो यह नाटक अवश्य पढ़िए। ऐसा मनोरंजक नाटक शायद ही आपने कभी पढ़ा हो। कई चित्रों से सुसज्जित पुस्तक का मूल्य ।॥), सुंदर रेशमी जिल्द १)

कर्बला

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत प्रेमचंदजी। मौलिक नाटक। हज़रत मुहम्मद के नवासे हज़रतहुसेन की शहादत का करुणाजनक ऐतिहासिक वृत्तांत। मुसलिम-इतिहास की सबसे करुणाजनक हृदय-विदारक, युगांतरकारी और महत्त्वपूर्ण घटना। वीर, भक्त और करुण रस का अनुपम दृश्य। पढ़ते समय कलेजा हाथों से थाम लेना पड़ता है। हुसैन का अपने समस्त परिवार को और अपने प्राण को भी इस्लाम की मर्यादा पर बलिदान कर देना, कर्बला के निर्जन मैदान में प्यास से तड़प-तड़पकर मरना दिल हिलादेनेवाला दृश्य है। इस घटना को इस्लामी इतिहास का महाभारत समझना चाहिए। उसी वीरात्मा के शोक में आज तक समस्त इस्लामी संसार में दस दिन तक मुहर्रम मनाया जाता है। मूल्य सादी १॥), सुनहरी रेशमी जिल्द २)

पूर्व भारत

लेखक, पं० श्यामविहारी मिश्र एम्० ए० और पं० शुकदेव विहारी मिश्र बी० ए०। महाभारत के कथानक को लेकर इसकी रचना हुई है। उत्तरा के विवाह तक की कथा इसमें आ गई है। विद्वान् लेखक-द्वय ने नाटक के मुख्य पात्रों के चरित्रों को उज्ज्वल बनाने में बड़ा प्रयास किया है। मानव-प्रकृति के विश्लेषण में जो निपुणता प्रकट की है, उससे भिन्न स्वभाववाले पात्रों के चरित्र एक दूसरे की रगड़ से स्पष्ट हो उठे हैं। यह पुस्तक कवित्व से कमनीय, नाटकत्व से निर्मल, सद्भावों से सुंदर और मौलिकता से मंडित है। कागज़ बढ़िया लगा है। छपाई बहुत ही सुंदर हुई है। मूल्य सादी ॥ ≈), सजिल्द १ ≈)